से अथवा उचित अवसर पर विराम न देने से वाक्य विपरीत अर्थ का बोधक हो जाता है। जैसे—पढ़ा, (विशे) पढ़ा (एकवार) में, पढ़ा (बल प्रथम अक्षर पर) भूतकाल, पढ़ा (बल द्वितीय अक्षर पर) प्रेरणार्थक; पकड़ो मत जाने दो (पकड़ो, मत जाने दो। पकड़ो मत, जाने दो)। वक्तृता कितनी ही रसपूर्ण क्यों न हो, वक्ता या पाठक कितना ही विद्वान् क्यों न हो, यदि उसका उच्चारण ठीक न होगा तो वह मन को पूर्ण आनन्द न देगी। अतः उच्चारण सौन्दर्योत्पादक है।

२. व्याकरण तथा शब्दकोष की शुद्धि से—अभीष्ट अर्थ का बोध कराने के लिए परिच्छिन्न शब्द होने चाहिएँ। अन्यथा अर्थ-प्रतीति तो हो जाती है, परंतु सदर्थ में सौंदर्य नहीं आ पाता। जैसे—'घो[illegible] है', 'बछड़ा' के लिये 'गाय का बच्चा' इत्यादि।

३. भाव, शैली और शब्दयोजना—सौन्दर्य अधिकतर इन्हीं पर निर्भर है। एक ही भाव को कई शैलियों से प्रकट किया जा सकता है। जैसे—'यह वृक्ष बड़ा ऊँचा है' यहाँ शैली साधारण तथा चमत्कारहीन है। परंतु 'यह वृक्ष आकाश से बातें करता है' 'यह वृक्ष गगन-चुम्बी है' यहाँ भाव तो पहले वाला ही है, परन्तु शैली तथा शब्द-योजना के कारण कुछ सौन्दर्य तथा चमत्कार उत्पन्न हो गया है।

प्रायः देखा जाता है कि किसी कवि की प्रारम्भिक कृतियों में शब्दों का बाहुल्य और भावों की न्यूनता होती है। मध्यावस्था में दोनों शब्द और भाव प्रायः बराबर होते हैं। उत्तर अवस्था में शब्दों की परिच्छिन्नता और भावों की अधिकता हो जाती है। प्रारम्भ में कवि अपनी भाषा को बड़ी सावधानी से सजाता है, थोड़े से भावों का विस्तृत रूप से वर्णन करता है, शब्दाडम्बर में ही फँसा रहता है। अन्तिम अवस्था में वाक्य मँजे होते हैं। उनमें कोई शब्द बदल देने या घटाने बढ़ाने से भावों में अन्तर हो जाता है। शब्दों और भावों की दौड़ में मानो भाव आगे निकल जाते हैं। थोड़े से शब्द भी अधिकाधिक भावों की अभिव्यक्ति करने में समर्थ होते हैं। यही तो भावों की, शैली की सुन्दरता है। इसी आनन्दप्रद सौन्दर्य को लिए हुए शब्द या वाक्य को काव्य कहते हैं।

काव्य एक कला है। इसलिए अन्य कलाओं तथा फैशन के समान इसमें सौन्दर्य-बोध के आदर्श भी देश, काल तथा परिस्थिति के भेद से भिन्न-भिन्न होते हैं। आल्हा ग्रामीणों को जितना आनन्द दे सकता है,

उतना एक सुशिष्ट नागरिक को नहीं। तथा पक्का राग एक सहृदय के हृदय को अत्यन्त आनन्द देते हुए भी साधारण व्यक्ति के लिये कोई आकर्षक वस्तु नहीं। कालिदास से जितना आनन्द एक साधारण भारतीय ले सकता है, उतना एक साधारण विदेशी जन नहीं।

सौन्दर्य-बोध के आदर्शों के इस भेद का कारण रुचि-भेद है। भौगोलिक परिस्थितियाँ और काल की दीर्घता तथा उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले सौन्दर्य-सम्बन्धी विचारो का सतत अभ्यास एक विशेष ढंग की रुचि उत्पन्न कर देता है। इसी से हमारे सजातीय विचारों की उत्पत्ति होती है, उनको पुष्टि तथा स्निग्धता मिलती है। यही रुचि सौन्दर्य-बोध की काव्यानन्दानुभूति की तुला बन जाती है।

यही रुचि, 'काव्य क्या है? कैसे वह सौन्दर्य आनन्द का उद्रेक करने में समर्थ होता है?' इन सब प्रश्नो के उत्तरों में भेद पैदा कर देती है। इन्हीं प्रश्नो के उत्तर का प्रतिपादन-करने-वाले शास्त्र को काव्य-साहित्य या अलङ्कार-शास्त्र कहते है। काव्य-शास्त्र इसलिये कि इसमें काव्य के गुण-दोषो का, अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना वृत्तियो का तथा अलङ्कार, रस, रीति आदि की विवेचना की जाती है। साहित्य भी काव्य को ही कहते हैं, और अलङ्कार-शास्त्र इसलिए कि अलङ्कार काव्य मे सौन्दर्य उत्पन्न करने वाले साधन को कहते है। यही शास्त्र प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय है।

इसमें काव्य के अङ्ग और उपाङ्गों का विशद विवेचन किया गया है। काव्य के सम्बन्ध में अवश्य ज्ञातव्य विषयों पर युक्तियुक्त प्रकाश डाला गया है। कुछ विशेष कारणो से गुण और दोषो का विचार इसमें नहीं किया गया।

सुप्रसिद्ध विवेचक विद्वान् पण्डितराज जगन्नाथ का अनुसरण करते हुए इस ग्रन्थ मे तारतम्य की दृष्टि से काव्य के चार भेद किये गये हैं। अर्थ-चमत्कार-प्रधान काव्य को मध्यम काव्य के और शब्द-चमत्कार-प्रधान को अधम काव्य के अन्तर्गत रखा गया है। पण्डितराज के अतिरिक्त प्रायः सभी साहित्याचार्यों ने अर्थ-चमत्कार और शब्द-चमत्कार में अन्तर न करते हुए दोनों को अधम काव्य में समाविष्ट किया है। परन्तु पण्डितराज का सिद्धान्त युक्तियुक्त और अनुभवसिद्ध है। कौन सहृदय अर्थ-चमत्कार में शब्द-चमत्कार की अपेक्षा उत्कर्ष का अनुभव नहीं करता। अतएव पण्डितराज की सुप्रशस्त सरणि का ही यहां आश्रय लिया गया है। अलङ्कारो के विषय में जो दो परस्पर-विरोधी सिद्धान्त चल पड़े—उनका

कारण यही था कि अर्थालङ्कार और शब्दालङ्कारों को एक ही कोटि का समझा गया। अत एव शब्दाडम्बर का आधिक्य काव्य के लिये अनुपयोगी समझ एक पक्ष सर्वांश अलङ्कारों का विरोधी हो गया और दूसरा पक्ष अर्थ-चमत्कार को काव्य के लिये अनुपयोगी समझ अलङ्कार शून्य काव्य की सत्ता को ही अस्वीकार कर बैठा, इस पक्ष के अनुसार अलङ्कार काव्य के लिये उतना ही आवश्यक है, जितना अग्नि में उष्णता का होना, अनुष्ण अग्नि नहीं होता, अतः अनलङ्कृत काव्य भी नहीं हो सकता।

परन्तु गम्भीर विवेचना से सिद्ध है कि अर्थ-चमत्कार और शब्द-चमत्कार में अत्यधिक अन्तर है। यदि इस अन्तर पर ध्यान दिया जाता तो अलङ्कारों के सम्बन्ध में उक्त विवाद खड़ा न होता।

उक्त विवाद उठा तब, जब काव्य पुरुष या कामिनी बना। पुरुष के आत्मा, शरीर, गुण, दोष और अलङ्कार होते हैं, इसलिये पुरुष और कामिनी के रूपक ने लोगों का ध्यान काव्य में भी इन्हें ढूँढने की ओर आकृष्ट किया, अतः उसमें भी आत्मा आदि का अन्वेषण होने लगा। उक्त पुरुष और कामिनी को सजाने वाले साधनों को लोक में अलङ्कार कहा जाता है, इसलिये काव्य में भी ऐसे साधनों को ही अलङ्कार कहा जाने लगा। जिस प्रकार कामिनी की शोभा बढ़ाते हुए भी अलङ्कार सदा आवश्यक नहीं, उसी प्रकार काव्य में भी अलङ्कार अस्थिर धर्म माने गये। परन्तु प्राचीन आचार्य अलङ्कार 'अर्थ-सौन्दर्य' को कहते थे। अर्थ-सौन्दर्य को ही वे काव्य की उपादेयता का हेतु कह गये हैं। अस्तु, विषयान्तर हो रहा है, इस विषय पर पुनः कभी।

इस ग्रन्थ में प्रत्येक विषय को सरलता से समझाने का प्रयत्न किया गया है। रस के विषय में भी विशद परन्तु सरल विवेचना की गई है, उसके सम्बन्ध में सभी अवश्य-ज्ञातव्य विषयों का निरूपण किया गया है।

लक्षण सरल गद्य में दिये गये हैं। पद्य में परिभाषा स्पष्ट नहीं होती, विवेचक आचार्यों ने अतएव गद्य में ही लक्षण दिये हैं। कहीं कहीं टिप्पणी में प्राचीन पद्यबद्ध लक्षण दे दिये हैं।

लक्षण के अनन्तर उसका विवरण भी दे दिया है ताकि आशय सुगम हो जाय।

उदाहरण यथासम्भव आधुनिक हिन्दी कविता से दिये हैं क्योंकि ग्रन्थ हिन्दी के पाठकों के लिये लिखा गया है, प्राचीन कविता समझने

मे आधुनिक पाठक कठिनाई अनुभव करते है या इस दृष्टि से उसकी उपेक्षा करने लगते हैं कि ये रस अलङ्कार आदि प्राचीन काव्यों के ही विषय है। आधुनिक उदाहरणों के द्वारा जहाँ विषय को समझने मे सरलता होगी, वहाँ यह बात भी सिद्ध हो जायगी कि आधुनिक कविताओ में भी रस और अलङ्कार आदि विद्यमान है। कवियों का कार्य कविता करना है, उसके गुण दोष की विवेचना आचार्यो का काम है। सच्चे कवि की कविता में अलङ्कार स्वत आ जाते हैं।

उदाहरण में आये हुए कठिन शब्दों के अर्थ सुगमता के लिये टिप्पणी में दे दिये हैं। कहीं-कहीं सम्पूर्ण पद्य का ही अर्थ दे दिया है। जहाँ अधिक आवश्यकता समझी गई है, वहाँ मूल में ही पद्य का अर्थ दे दिया है।

एक बात अलङ्कारों के सम्बन्ध में कहकर हम अपना वक्तव्य समाप्त करते हैं। अलङ्कार यहाँ वे ही दिये गये हैं, जो अधिक प्रचलित है। यह ग्रन्थ क्योकि आधुनिक काल के पाठको के लिये लिखा गया है, इसलिए जिन अलङ्कारो के उदाहरण हिन्दी-कविता में नहीं मिलते अर्थात् जो अलङ्कार प्रचलित नहीं, उन्हें छोड दिया गया। बहुत से अलङ्कार ऐसे हैं जिनका अन्य ग्रन्थों मे निरूपण किया गया है, पर उनके उदाहरण हिन्दी में मिलते ही नहीं, मिलते भी हैं तो संस्कृत पद्यो के अनुवाद रूप में, वे भी उन संस्कृत पद्यो के अनुवाद रूप में जो फरमायशी गढ़े गये हैं अर्थात् जिनकी रचना किसी अलङ्कार के उदाहरण के उद्देश्य से ही हुई है। यहाँ ऐसे अलङ्कारों से बचने की कोशिश की गई है।

इस ग्रन्थ में बहुमान्य सिद्धान्तो का ही प्रतिपादन किया गया है। इतने पर भी मतभेद सम्भव है, परन्तु यह स्वाभाविक है।

अन्त में उन लक्षणग्रन्थों और लक्ष्यग्रन्थों तथा उनके रचयिताओं के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करते है, जिनसे हमारी बुद्धि और हृदय प्रभावित हुए हैं।

ग्रन्थ कैसा बना है, इसके सम्बन्ध में यहाँ कुछ नहीं कहा जायगा, न कहना ही चाहिये। विवेचक विद्वान् स्वयं निर्णय करेंगे।

विवेचक विद्वानों की सेवा में यह निवेदन भी यहाँ पर कर देना आवश्यक है कि त्रुटियों की सूचना अवश्य देने की कृपा करें।

मूलराज

विषय-सूची

काव्य-शिक्षा

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है काव्य। काव्य का लक्षण करने के पहले उसका प्रयोजन बताना अत्यावश्यक है, क्योंकि बुद्धि-मानों के विषय में तो क्या कहना ? साधारण प्राणी भी बिना प्रयोजन के किसी विषय में प्रवृत्त नहीं होते। निष्प्रयोजन कार्य कोई नहीं करता या करना चाहता। अतः काव्य की उपादेयता सिद्ध करने के लिये सर्वप्रथम काव्य का प्रयोजन बताया जाता है।

काव्य के प्रयोजन

प्राचीन काव्यमर्मज्ञ आचार्यों ने इसके अनेक प्रयोजन बताये हैं। इनमें मुख्य ये हैं—परम-आनन्द की प्राप्ति, यश की प्राप्ति, गुरु, देवता और राजा महाराजाओं को प्रसन्न करना, धन-प्राप्ति, आनन्द के साथ साथ शिक्षा।

संक्षेप से इन प्रयोजनों पर विचार कर लेना चाहिये।

आनन्द की प्राप्ति काव्य से होती है इसमें तो किसी सहृदय को सन्देह नहीं। यह बात तो स्वानुभवसिद्ध है। का पढ़ने, सुनने तथा देखने (नाटक के) से आनन्द का अनुभ है। कवि भी इसलिये ही काव्य की रचना करता है कि अपनी अनुभूतियों को व्यक्त कर परम आनन्द मिलता है।

यश की प्राप्ति--काव्य से यश की प्राप्ति होती है लोकप्रसिद्ध बात है। महाकवि तुलसीदास, बाबू मैथिलीशरण जयशंकरप्रसाद तथा सुमित्रानन्दन पन्त आदि अपने काव्य द्वारा ही प्रसिद्ध हुए हैं।

गुरु आदि की प्रसन्नता—काव्य के द्वारा गुरु आदि प्रसन्न करना भी सिद्ध ही है। कविता के द्वारा उनकी स्तु उन्हें प्रसन्न किया जाता है। बहुत से कवि तो राजाओं के में रहते रहे हैं—इसका कारण यही तो है कि वे अपनी काव्य के द्वारा उन्हें प्रसन्न कर सकें।

धनप्राप्ति—काव्य से होती रही है इसके अनेक हैं। भूषण कवि का शिवाजी से पुरस्कार पाना इतिहास है। पद्माकर का महाराज जगत्सिंह आदि से धन पाना भी है। वर्तमान समय में भारत के कवि भले ही धन-हीन विदेशों के कवि काव्य से अतुल धन कमा रहे हैं। वह ध राजा महाराजाओं से प्राप्त हो, चाहे काव्य-ग्रन्थ के वि द्वारा सर्व-साधारण से।

आनन्द के साथ साथ शिक्षा—काव्य के शब्द सरस
ते हैं, उनसे आनन्द भी मिलता है और उपदेश भी। वेद शास्त्र
ब्दप्रधान हैं, उनके वचन स्वामी की आज्ञा के समान कठोर
नीति शास्त्र पुराण आदि अर्थप्रधान हैं, उनके वचन मित्र के
देश के समान मधुर हैं। पर काव्य में शब्द और अर्थ (वाच्य)
नों गौण रहते हैं, प्रधान रसादि व्यङ्ग्य अर्थ रहता है। जिस
कार कान्ता अपने सरस वचनों से अपनी ओर आकृष्ट कर
देश देती है, अपने मन के अनुकूल कार्य करा लेती है। उसी
कार काव्य सरसता के कारण अपनी ओर आकृष्ट कर शिक्षा
ा है। 'रामचरितमानस' पढ़कर आनन्द भी मिलता है और
ह उपदेश भी—राम आदि के समान आचरण करना चाहिये,
वण आदि के समान नहीं।

इन प्रयोजनों में आनन्द की प्राप्ति सहृदय को होती है।
दि कवि भी सहृदय हो तो उसे भी आनन्द की प्राप्ति होगी। कवि
ायः सहृदय ही होते हैं। यश तथा धन की प्राप्ति रूप फल कवि को
मिलते हैं। शिक्षा सहृदय को मिलती है।

वर्तमान काल मे कीर्ति, जो कवि को मिलती है और
ानन्द की प्राप्ति, जो सहृदय और कवि दोनों को होती है—ये दो
फल मुख्य रूप से माने जाते हैं।

'कला कला के लिये ही है' इस सिद्धान्त के अनुयायी
ाव्य' कला का कोई विशेष प्रयोजन नहीं मानते।

काव्य के साथ दो प्रकार के व्यक्तियों का सम्बन्ध है। एक तो काव्य के निर्माता-कर्ता का और दूसरे सहृदय सामाजिक (पाठक-श्रोता और दर्शक) का।

इन दोनो के लिये काव्य का परिज्ञान आवश्यक है। यदि कवि को इस विषय का ज्ञान न होगा, तो उसका काव्य उत्कृष्ट न बन सकेगा और यदि सहृदय को न होगा तो वह काव्य के पढ़ने, सुनने और देखने से पूर्ण आनन्द न प्राप्त कर सकेगा। अतः दोनों के लिये परमावश्यक होने के कारण काव्य के सम्बन्ध में यह विवेचना की जा रही है।

काव्य का प्रभाव और उपादेयता

मनुष्य मे एक प्रबल प्रवृत्ति है आनन्द प्राप्त करना। आनन्द मिलता है सौन्दर्य से। सौन्दर्य मे आकर्षण होता है। अनएव सुन्दरता से हमारा स्वाभाविक अनुराग है। जहाँ जहाँ सौन्दर्य का दर्शन होता है, वहाँ वहाँ मनुष्य स्वतः खिंचा चला जाता है। उसे वार वार देखने को जी चाहता है और वार वार देखते हैं तथा उससे अपूर्व आनन्द प्राप्त करते हैं। सौन्दर्य-प्रेम के कारण ही मनुष्य अपनी उपयोग की वस्तुओं मे भी सौन्दर्य देखना चाहता है, अतएव उनमे सौन्दर्य लाने का प्रयत्न करता है। सौन्दर्य-प्रेम की इस मानव-प्रवृत्ति का परिणाम है—ललित कलाओं का जन्म। ये कलाएँ पाँच हैं—वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य। इनमें काव्य सर्वोत्तम है। इसके द्वारा उक्ति मे सौन्दर्य आ जाता है। सौन्दर्य से मनुष्य आकृष्ट हो जाता है और आनन्द का अनुभव

करता है। साधारण वस्तु भी काव्य के आश्रय से असाधारणरूप से चमत्कृत हो जाती है; सुन्दर बन जाती है।

मनुष्य मे एक यह भी प्रवृत्ति है कि वह अपने कथन का दूसरों पर प्रभाव डालना चाहता है, उसके लिये प्रयत्न करता है। काव्य में प्रभावोत्पादन की शक्ति प्रबल मात्रा में है। जिन बातों का साधारण रूप से प्रकट करने में कोई प्रभाव नहीं पडता, उनको काव्य के रूप मे प्रकट करने से पूर्ण प्रभाव पडता है। काव्य हृदय की वस्तु है। हृदय की भावनाओं का मूर्त रूप काव्य है, अतएव वह हृदय पर प्रभाव डालती है। जो काव्य सहृदय के हृदय का स्पर्श नहीं कर सकता, उस पर प्रभाव नहीं डाल पाता, वह हृदयजात न होगा और न काव्य कहलाने का ही अधिकारी होगा। यह कभी नहीं हो सकता कि हृदय से निकली हुई वस्तु हृदय तक न पहुँचे। भूषण कवि की वीर-रसमयी कविताओं ने हिन्दू जाति को जगा दिया था। जयपुर के महाराज जयसिंह को जब मन्त्री लोग समझाते समझाते हार गये तब महाकवि बिहारी की कविता ने ही अपने प्रभाव से उन्हे विषय-वासनाओं से मुक्ति दिला कर्त्तव्य-पालन की ओर अग्रसर किया। कविता का प्रभाव सभी पर पड़ता है। बड़े बड़े धर्म के प्रचारक उपदेशक भी प्रभाव डालने के उद्देश्य से अपने भाषण को काव्यमय बनाया करते हैं, कविताकामिनी का आँचल पकड़ते है, काव्यमयी भाषा का आश्रय लेते हैं, काव्योचित शब्दों और भावों को लेकर भाषण को प्रभावोत्पादक बनाते हैं। रामचरितमानस के 'राम-वनवास' के वर्णन का सहृदयों पर इतना प्रभाव पडता है कि उनकी आँखों में आँसू छलछला आते हैं।

अतः आनन्द का हेतु होने से तथा प्रभाव डालने की असाधारण क्षमता रखने के कारण काव्य उपादेय पदार्थ है।

काव्य का लक्षण

रमणीय अर्थ के बताने वाले वाक्य को काव्य कहते हैं।

जिसके ज्ञान से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, उसे रमणीय अर्थ कहते हैं।

'आप परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये' अथवा 'आपके नाम एक लाख रुपये की लाटरी निकली है' इत्यादि वाक्यों को सुनकर श्रोता के हृदय में आनन्द का अनुभव होता है। पर यह आनन्द अलौकिक नहीं, लौकिक है, साधारण है। अतः ऐसे वाक्यों को काव्य नहीं कहा जा सकता।

रमणीयता कहते हैं सौन्दर्य को, चमत्कार को। अर्थ में चमत्कार दो प्रकार से उत्पन्न होता है, (१) व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा प्रतिपादन करने से, और (२) अलङ्कार के द्वारा। व्यञ्जना तथा अलङ्कार—इन दोनों का निरूपण आगे किया जायगा।

उदाहरण—

> अबला जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी।
> आँचल में दूध और आँखों में पानी॥
>
> —यशोधरा

रमणीय अर्थ का प्रतिपादक वाक्य होने से यह काव्य है। इसके पढने तथा सुनने से अलौकिक आनन्द का अनुभव होता है।

कविता और काव्य

यहाँ 'कविता' और 'काव्य' शब्द के प्रयोग पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि आजकल इनके प्रयोग मे कुछ अनियमितता-सी आ गई है। वास्तव में 'कविता' और 'काव्य' समानार्थक शब्द हैं, इनके अर्थ मे मूलतः कोई अन्तर नहीं, कवि के कर्म को 'कविता' शब्द से भी प्रकट किया जा सकता है और 'काव्य' शब्द से भी। प्रत्यय-भेद के अतिरिक्त इनमे कोई मौलिक भेद नहीं।

परन्तु आजकल 'काव्य' शब्द का प्रयोग काव्य-ग्रन्थ के लिये ही हो रहा है। 'यशोधरा' को काव्य कहा जाता है, पर उसके किसी पद्य को नहीं। किसी एक पद्य को कविता कहा जाता है। यह सब होते हुए भी 'यशोधरा' की रचना के समय यही व्यवहार होता है कि मैथिलीशरण गुप्त कविता कर रहे हैं। मुक्तक-फुटकर-रचना करते हुए भी कहा जाता है 'कविता करता हूँ' 'काव्य करता हूँ' नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि आजकल काव्य के लिये अधिकतर 'कविता' शब्द का प्रयोग होता है और जब ग्रन्थ को बताना हो तो 'काव्य' शब्द का।

एक बात और है—अब ये दोनों शब्द केवल पद्यबद्ध रचना के लिये प्रयुक्त होने लगे हैं। प्राचीन काल मे 'काव्य' शब्द का ही प्रयोग होता था और वह भी गद्य और पद्य दोनों प्रकार की रचनाओं के लिये, 'कविता' शब्द का प्रयोग प्राचीन काल में प्रायः नहीं किया गया। अब ऐसा नहीं, 'कविता' शब्द का अधिकतर

अतः आनन्द का हेतु होने से तथा प्रभाव डालने में असाधारण क्षमता रखने के कारण काव्य उपादेय पदार्थ है।

काव्य का लक्षण

रमणीय अर्थ के बताने वाले वाक्य को काव्य कहते हैं जिसके ज्ञान से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, उसे रमणीय अर्थ कहते हैं।

'आप परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये' अथवा 'आपके नाम लाख रुपये की लाटरी निकली है' इत्यादि वाक्यों को सुनकर श्रोता के हृदय में आनन्द का अनुभव होता है। पर यह आनन्द अलौकिक नहीं, लौकिक है, साधारण है। अतः ऐसे वाक्यों को काव्य नहीं कहा जा सकता।

रमणीयता कहते हैं सौन्दर्य को, चमत्कार को। अर्थ में चमत्कार दो प्रकार से उत्पन्न होता है, (१) व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा प्रतिपादन करने से, और (२) अलङ्कार के द्वारा। व्यञ्जना तथा अलङ्कार—इन दोनों का निरूपण आगे किया जायगा।

उदाहरण—

अवला जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में दूध और आँखों में पानी॥

—यशोधरा

रमणीय अर्थ का प्रतिपादक वाक्य होने से यह काव्य है। इसके पढ़ने तथा सुनने से अलौकिक आनन्द का अनुभव होता

कविता और काव्य

यहाँ 'कविता' और 'काव्य' शब्द के प्रयोग पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि आजकल इनके प्रयोग मे कुछ अनियमितता-सी आ गई है। वास्तव में 'कविता' और 'काव्य' समानार्थक शब्द हैं, इनके अर्थ मे मूलतः कोई अन्तर नहीं, कवि के कर्म को 'कविता' शब्द से भी प्रकट किया जा सकता है और 'काव्य' शब्द से भी। प्रत्यय-भेद के अतिरिक्त इनमें कोई मौलिक भेद नहीं।

परन्तु आजकल 'काव्य' शब्द का प्रयोग काव्य-ग्रन्थ के लिये ही हो रहा है। 'यशोधरा' को काव्य कहा जाता है, पर उसके किसी पद्य को नहीं। किसी एक पद्य को कविता कहा जाता है। यह सब होते हुए भी 'यशोधरा' की रचना के समय वही व्यवहार होता है कि मैथिलीशरण गुप्त कविता कर रहे हैं। मुक्तक-फुटकर-रचना करते हुए भी कहा जाता है 'कविता करता हूँ' 'काव्य करता हूँ' नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि आजकल काव्य के लिये अधिकतर 'कविता' शब्द का प्रयोग होता है और जब ग्रन्थ को बताना हो तो 'काव्य' शब्द का।

एक बात और है—अब ये दोनों शब्द केवल पद्यबद्ध रचना के लिये प्रयुक्त होने लगे हैं। प्राचीन काल मे 'काव्य' शब्द का ही प्रयोग होता था और वह भी गद्य और पद्य दोनों प्रकार की रचनाओं के लिये, 'कविता' शब्द का प्रयोग प्राचीन काल में प्रायः नहीं किया गया। अब ऐसा नहीं, 'कविता' शब्द का अधिकतर

अतः आनन्द का हेतु होने से तथा प्रभाव डालने की असाधारण क्षमता रखने के कारण काव्य उपादेय पदार्थ है।

काव्य का लक्षण

रमणीय अर्थ के बताने वाले वाक्य को काव्य कहते हैं
जिसके ज्ञान से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, उसे रमणीय अर्थ कहते हैं।

'आप परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये' अथवा 'आपके नाम एक लाख रुपये की लाटरी निकली है' इत्यादि वाक्यों को सुनकर भी श्रोता के हृदय में आनन्द का अनुभव होता है। पर यह आनन्द अलौकिक नहीं, लौकिक है, साधारण है। अतः ऐसे वाक्यों को काव्य नहीं कहा जा सकता।

रमणीयता कहते हैं सौन्दर्य को, चमत्कार को। अर्थ में चमत्कार दो प्रकार से उत्पन्न होता है, (१) व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा प्रतिपादन करने से, और (२) अलङ्कार के द्वारा। व्यञ्जना तथा अलङ्कार—इन दोनों का निरूपण आगे किया जायगा।

उदाहरण—

अबला जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में दूध और आँखों में पानी॥

कविता और काव्य

यहाँ 'कविता' और 'काव्य' शब्द के प्रयोग पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि आजकल इनके प्रयोग मे कुछ अनियमितता-सी आ गई है। वास्तव में 'कविता' और 'काव्य' समानार्थक शब्द हैं, इनके अर्थ में मूलतः कोई अन्तर नहीं, कवि के कर्म को 'कविता' शब्द से भी प्रकट किया जा सकता है और 'काव्य' शब्द से भी। प्रत्यय-भेद के अतिरिक्त इनमे कोई मौलिक भेद नहीं।

परन्तु आजकल 'काव्य' शब्द का प्रयोग काव्य-ग्रन्थ के लिये ही हो रहा है। 'यशोधरा' को काव्य कहा जाता है, पर उसके किसी पद्य को नहीं। किसी एक पद्य को कविता कहा जाता है। यह सब होते हुए भी 'यशोधरा' की रचना के समय यही व्यवहार होता है कि मैथिलीशरण गुप्त कविता कर रहे हैं। मुक्तक-फुटकर-रचना करते हुए भी कहा जाता है 'कविता करता हूँ' 'काव्य करता हूँ' नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि आजकल काव्य के लिये अधिकतर 'कविता' शब्द का प्रयोग होता है और जब ग्रन्थ को बताना हो तो 'काव्य' शब्द का।

एक बात और है—अब ये दोनों शब्द केवल पद्यबद्ध रचना के लिये प्रयुक्त होने लगे हैं। प्राचीन काल में 'काव्य' शब्द का ही प्रयोग होता था और वह भी गद्य और पद्य दोनों प्रकार की रचनाओं के लिये, 'कविता' शब्द का प्रयोग प्राचीन काल में प्रायः नहीं किया गया। अब ऐसा नहीं, 'कविता' शब्द का अधिकतर

प्रयोग होता है, 'काव्य' का न्यून, वह भी ग्रन्थों के लिये। न उपन्यासकार प्रेमचन्द को कवि कहा जाता है, और न नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय को ही। उनके उपन्यास और नाटकों को काव्य नहीं कहा जाता। 'कविता' शब्द का प्रयोग तो सर्वथा पद्यबद्ध के लिये ही होता है। सार यह है कि इन शब्दों को संकुचित अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है।

परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है काव्य के अन्तर्गत वे सभी रचनाएँ आयँगी, जिनसे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो चाहे वह गद्य में हो चाहे पद्य में। काव्य का मूलतत्त्व है आनन्द वह जिसमें होगा, वह काव्य कहा जायगा। इस दृष्टि से—उपन्यास निबन्ध और नाटक आदि सभी काव्य कहे जायँगे। काव्य के इस व्यापक अर्थ को लेकर ही यहाँ उसके भेद किये जायँगे।

काव्य के भेद

काव्य के मुख्य दो भेद हैं—दृश्य और श्रव्य।

दृश्य काव्य

जिसके वर्णनीय विषय अर्थात् कथावस्तु का अभिनय किया जा सके, उसे दृश्य काव्य कहते हैं।

इसे दृश्य इसलिये कहते हैं—यह देखा जाता है, इसके वर्ण्य विषय का रङ्गमञ्च पर अभिनय होता है और सामाजिक उसे देखता है, देखकर आनन्द प्राप्त करता है।

पूर्ण आनन्द देखने से ही मिलता है, क्योंकि वे लिखे ही इस उद्देश्य से गये होते हैं कि रङ्गमञ्च पर दिखाये जा सकें। हाँ, ऐसे भी नाटक हैं और अधिक संख्या में हैं, जिनका रङ्गमञ्च पर अभिनय कर दिखाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है, कम से कम बिना काट-छाँट किये जैसे के तैसे रूप में तो उनका अभिनय नहीं हो सकता। पर उन्हें भी नाटक कहा जाता है। परन्तु ध्यान रहे, शुद्ध नाटक उन्हें ही कहा जाना चाहिये जिनको जैसे के तैसे रूप मे रङ्गमञ्च पर अभिनीत किया जा सके। जो नाटक ऐसे नहीं हैं, और उनके पढने तथा सुनने से आनन्द का अनुभव होता है, वे नाटक हैं—रूप से। पर उन्हें श्रव्य नाटक ही कहा जाना चाहिये। आजकल के अधिकांश नाटक इसी ढंग के हैं। जयशंकर प्रसाद जी के 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' आदि इसी कोटि के नाटक हैं। उनके पढ़ने तथा सुनने से काव्य का सा आनन्द प्राप्त होता है। फिर भी यह स्वीकार करना पडता है कि ऐसे नाटकों का भी नाटकीय महत्त्व है।

अभिनय अनुकरण को कहते हैं। अनुकरण करने वाले को अनुकर्ता या नट कहते हैं और जिसका अनुकरण किया जाय उसे अनुकार्य, नाटक में वर्णित राम सीता आदि।

अनुकरण चार प्रकार का होता है—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। आङ्गिक अनुकरण का अर्थ शारीरिक चेष्टाओं का अनुकरण है। दुष्यन्त ने जैसे मृग के पीछे दौड़ते हुए धनुष पर बाण चढ़ाया, उसका अनुकरण आङ्गिक अनुकरण कहा जायगा, अथवा जैसे मुद्राराक्षस में चाणक्य का चोटी खुला रखना,

वर्तमान काल में रूपक और उपरूपकों के पूर्वोक्त भेदों की सूक्ष्मता का न तो विचार किया जाता है और न उपयोग ही। अब तो सभी नाटक कहे जाते हैं चाहे उनकी कथा ऐतिहासिक हो अथवा कवि-कल्पित।

इनके वर्तमान रूप मे कथा के भेद से तीन भेद किये जा सकते हैं—१ ऐतिहासिक, २ पौराणिक, ३ काल्पनिक। जयशंकरप्रसाद जी के 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' ऐतिहासिक नाटक हैं और उदयशङ्कर भट्ट जी के 'अम्बा' और 'सागरविजय' पौराणिक। काल्पनिक नाटक है—जयशंकरप्रसाद जी का 'कामना'।

इसी प्रकार एक और लहर नाटकों के क्षेत्र में चल पडी है, वह है एकाङ्की नाटकों की। प्राचीन काल मे एकाङ्की नाटक थे। रूपक और उपरूपक के अनेक प्रकार एकाङ्की ही हैं। भास का 'ऊरुभङ्ग', नीलकण्ठ दीक्षित का 'कल्याणसौगन्धिक' व्यायोग एकाङ्की हैं। पर हिन्दी में एकाङ्की नाटकों का विकास संस्कृत की प्राचीन रूढ़ियों के अनुसार नहीं हो रहा, अपि तु स्वतन्त्र रूप से। इन एकाङ्की नाटकों का भी अपना निजी महत्त्व है। जयशङ्करप्रसाद जी का 'एक घूँट' और रामकुमार वर्मा जी का 'दस मिनट' एकाङ्की नाटक हैं।

एकाङ्की नाटक में किसी एक घटना या मानसिक भाव का ... का रूप दिखलाया जाता है। इसमें दृश्य एक भी होता है एक से अधिक भी।

श्रव्य काव्य

जो काव्य केवल पढ़े या सुने जा सकें उन्हें 'श्रव्य' काव्य कहते हैं।

मैथिलीशरणगुप्त जी का 'साकेत' और जयशंकरप्रसाद जी की 'कामायनी' श्रव्य काव्य हैं।

श्रव्य काव्य के भेद

श्रव्य काव्य के शैली-भेद से तीन भेद हैं—१ गद्य, २ पद्य और ३ चम्पू।

'गद्य' छन्दरहित और 'पद्य' छन्दोबद्ध रचना को कहते हैं। 'चम्पू' गद्य और पद्य मिली हुई रचना को कहते हैं।

गद्य काव्य के अन्तर्गत कथा-कहानी, उपन्यास और निबन्ध आते हैं और पद्य काव्य के अन्तर्गत कविताएँ।

चम्पू काव्य का संस्कृत में प्रचलन था। हिन्दी में इसका चलन नहीं के बराबर है। वियोगी हरि का 'साहित्यविहार' और जयशंकर प्रसाद जी के 'चित्राधार' में आये हुए 'उर्वशी' और 'बभ्रुवाहन'—चम्पू कहे जा सकते हैं। मैथिलीशरणगुप्त जी की 'यशोधरा' को भी कोई कोई गद्य-पद्यमय होने से 'चम्पू' कहते हैं।

पद्यकाव्य के दो भेद हैं—१ मुक्तक और २ प्रबन्ध।

मुक्तक उस छन्दोबद्ध रचना को कहते हैं जो अपने-आप एक पूर्ण अर्थ को प्रकट करे, किसी दूसरे की अपेक्षा न रखे। मुक्तक

शब्द का अर्थ है मुक्त—स्वतन्त्र अर्थात् दूसरे से असम्बद्ध; वह अकेला ही स्वतन्त्र रूप से भाव को अभिव्यक्त करता है। मीरा के पद और बिहारी के दोहे मुक्तक हैं। मुक्तक पद्यों के संग्रह को कोषकाव्य कहते हैं। जैसे—बिहारी-सतसई।

मुक्तक के भी वर्ण्य विषय के भेद से दो भेद हैं—एक तो वे हैं जिनमें सासारिक उन अनुभवों का वर्णन होता है जो कवि ने स्वयं अपने जीवन में प्राप्त किये हों या दूसरों के अनुभवों के आश्रय पर प्राप्त किये हों। इस अनुभवसिद्ध सत्य का वर्णन जिनमे होता है उन मुक्तकों को सूक्ति भी कहते हैं। रहीम और वृन्द के दोहे तथा गिरिधर की कुण्डलियाँ और बाबा दीनदयालगिरि की अन्योक्तियाँ सूक्ति मुक्तक हैं। दूसरे मुक्तक वे हैं जिनमें किसी रस या भाव का वर्णन हो—बिहारी के दोहे, सेनापति के पद, मतिराम के सवैये आदि रसमय मुक्तक हैं।

आजकल की कविताएँ प्रायः मुक्तक के ढंग से हो रही हैं। एक विषय पर एक से अधिक पद्य लिखने की शैली आजकल चली हुई है। इस शैली पर लिखे गये काव्य भी मुक्तक ही कहे जायँगे। महादेवी वर्मा के 'नीरजा' आदि काव्य तथा बच्चन की 'मधुशाला' सुमित्रानन्दन पन्त के 'पल्लव' आदि काव्य मुक्तक हैं।

मुक्तकों में जिनकी रचना गीतों के रूप मे हो उन्हे 'गीत-काव्य' कहा जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी की 'विनयपत्रिका' गीतकाव्य है। आजकल इस ढंग की रचना अधिक हो रही है। ीत-कला इसमें मिली होती है। इनमें छन्द भी मुक्तक होते हैं, 'लय' के ऊपर इनकी रचना निर्भर होती है।

मुक्तक के लिये फुटकर या फुटकल भी कहते हैं। संस्कृत के इसी अर्थ के स्फुट अथवा स्फुटक शब्द से ये शब्द निकले हैं।

प्रबन्धकाव्य—उसे कहते हैं जिसमे कथा धारावाहिक हो। इसके पद्य कथानक की एकता के कारण परस्पर सम्बद्धार्थ होते हैं, पूर्वापर प्रसङ्ग के ज्ञान के विना इनका आशय सुगम नहीं होता।

प्रबन्ध-काव्य के कथानक के परिमाण-भेद से दो भेद होते हैं—१ महाकाव्य, २ खण्डकाव्य।

महाकव्य—उसे कहते हैं जिसमे मानव-जीवन का पूर्ण चित्र अङ्कित किया गया हो।

उदाहरण—तुलसीदास जी का 'रामचरितमानस'। इसमे राम के जीवन के सभी अंशों का वर्णन है। जायसी का 'पद्मावत', मैथिलीशरण गुप्त जी का 'साकेत' और अयोध्यासिंह उपाध्याय जी के 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही-वनवास' महाकाव्य हैं। वर्णन विषय के विस्तार के कारण इसके आकार में भी विस्तार हो जाता है।

खण्डकाव्य—उसे कहते हैं जिसमें जीवन के किसी एक अंश का वर्णन किया गया हो।

उदाहरण—मैथिलीशरण गुप्त जी का 'जयद्रथवध'। इसमें महाभारत के विशाल उपाख्यान के 'जयद्रथवध' रूप एक अंश का ही वर्णन किया गया है। रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' और 'मिलन' भी खण्डकाव्य ही हैं।

काव्य के मुख्य चार भेद

अर्थ की रमणीयता काव्य में होती है। उस रमणीयता में तारतम्य रहता है। सर्वत्र एकरूप रमणीयता का नहीं मिलता। अत' रमणीयता के तारतम्य से काव्य के चार भेद हैं—१ उत्तमोत्तम, २ उत्तम, ३ मध्यम, ४ अधम।

१. उत्तमोत्तम

जहाँ शब्द और अर्थ अपने को गौण बनाकर किसी चमत्कारजनक अर्थ को अभिव्यक्त करते है अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति से प्रकट करते हैं वह उत्तमोत्तम काव्य होता है।

इस लक्षण से सिद्ध हुआ कि उत्तमोत्तम काव्य मे शब्द और (वाच्य) अर्थ अप्रधान रहते हैं। प्रधान व्यङ्ग्य अर्थ रहता है। यदि वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ मे चमत्कार अधिक होगा तो उसे प्रधान समझा जायगा।

इसे ध्वनि काव्य भी कहते हैं।

ध्वनि शब्द के प्रयोग का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। इसका तीन भिन्न भिन्न अर्थों मे प्रयोग होता है। १. जब यह काव्य शब्द के साथ प्रयुक्त होता है तब इसका अर्थ 'व्यङ्ग्यप्रधान' होता है। २. 'गङ्गा पर आश्रम है—इस वाक्य से आश्रम की शीतलता और पवित्रता की ध्वनि निकलती है' यहाँ ध्वनि शब्द का प्रयोग 'व्यङ्ग्य' अर्थ के लिये किया गया है। ३. 'गङ्गा पर हमारा आश्रम है' यहाँ से यह अर्थ निकलता है कि आश्रम पवित्र और शीतल है—

यहाँ ध्वनि शब्द का प्रयोग व्यञ्जना वृत्ति के लिये हुआ। इस प्रकार १. व्यङ्ग्यप्रधान काव्य, २. व्यङ्ग्य अर्थ और, ३. व्यञ्जना वृत्ति— इन तीनों अर्थों में इस शब्द का प्रयोग होता है। इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये।

उदाहरण—

देखन मिसु मृग विहग तरु, फिरै बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुवीर छवि, बाढ़ी प्रीति न थोरि॥

—रामचरितमानस

यह जनकपुरी के उस दृश्य का वर्णन है जब रामचन्द्र जी उपवन की शोभा देख रहे हैं, गौरी-पूजन के लिये आई हुई सीता जी भी वहाँ पहुँची हैं। सीता जी रामचन्द्र जी की छवि देखकर प्रेमनिमग्न हो गई हैं। वह मृग, पक्षी और वृक्षों को देखने के बहाने बार बार उस ओर आती हैं जिधर रामचन्द्र जी हैं। बार बार देखने से अनुराग बढ़ जाता है।

यहाँ सीता जी के रामचन्द्र जी के प्रति पूर्व-अनुराग का वर्णन होने से विप्रलम्भ-शृङ्गार व्यङ्ग्य है। शब्द और वाच्य अर्थ यहाँ अप्रधान हो गये हैं। प्रधानता व्यङ्ग्य अर्थ में ही है, अतः रस-ध्वनि के कारण यह उत्तमोत्तम काव्य है।

उदाहरण—

अबला-जीवन, हाय, तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में दूध और, आँखों में पानी॥

—यशोधरा

काव्य के मुख्य चार भेद

अर्थ की रमणीयता काव्य में होती है। उस रमणीयता में तारतम्य रहता है। सर्वत्र एकरूप रमणीयता का नहीं मिलता। अतः रमणीयता के तारतम्य से काव्य के चार भेद हैं—१ उत्तमोत्तम, २ उत्तम, ३ मध्यम, ४ अधम।

१. उत्तमोत्तम

जहाँ शब्द और अर्थ अपने को गौण बनाकर किसी चमत्कारजनक अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति से प्रकट करते हैं वह उत्तमोत्तम काव्य होता है।

इस लक्षण से सिद्ध हुआ कि उत्तमोत्तम काव्य में शब्द और (वाच्य) अर्थ अप्रधान रहते हैं। प्रधान व्यङ्ग्य अर्थ रहता है। यदि वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ मे चमत्कार अधिक होगा तो उसे प्रधान समझा जायगा।

इसे ध्वनि काव्य भी कहते हैं।

ध्वनि शब्द के प्रयोग का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। इसका तीन भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयोग होता है। १. जब यह काव्य शब्द के साथ प्रयुक्त होता है तब इसका अर्थ 'व्यङ्ग्यप्रधान' होता है। २. 'गङ्गा पर आश्रम है—इस वाक्य से आश्रम की शीतलता और पवित्रता की ध्वनि निकलती है' यहाँ ध्वनि शब्द का प्रयोग 'व्यङ्ग्य' अर्थ के लिये किया गया है। ३. 'गङ्गा पर हमारा आश्रम है' यहाँ ध्वनि से यह अर्थ निकलता है कि आश्रम पवित्र और शीतल है—

यहाँ ध्वनि शब्द का प्रयोग व्यञ्जना वृत्ति के लिये हुआ। इस प्रकार १. व्यङ्ग्यप्रधान काव्य, २. व्यङ्ग्य अर्थ और, ३. व्यञ्जना वृत्ति—इन तीनों अर्थों में इस शब्द का प्रयोग होता है। इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये।

उदाहरण—

देखन मिसु मृग विहग तरु, फिरै वहोरि वहोरि।
निरखि निरखि रघुवीर छवि, वाढी प्रीति न थोरि॥

—रामचरितमानस

यह जनकपुरी के उस दृश्य का वर्णन है जब रामचन्द्र जी उपवन की शोभा देख रहे हैं, गौरी-पूजन के लिये आई हुई सीता जी भी वहाँ पहुँची हैं। सीता जी रामचन्द्र जी की छवि देखकर प्रेमनिमग्न हो गई हैं। वह मृग, पक्षी और वृक्षों को देखने के वहाने वार वार उस ओर आती हैं जिधर रामचन्द्र जी हैं। वार वार देखने से अनुराग बढ़ जाता है।

यहाँ सीता जी के रामचन्द्र जी के प्रति पूर्व-अनुराग का वर्णन होने से विप्रलम्भ-शृङ्गार व्यङ्ग्य है। शब्द और वाच्य अर्थ यहाँ अप्रधान हो गये हैं। प्रधानता व्यङ्ग्य अर्थ में ही है, अतः रस-ध्वनि के कारण यह उत्तमोत्तम काव्य है।

उदाहरण—

अवला-जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में दूध और, आँखों में पानी॥

—यशोधरा

यहाँ वाच्य अर्थ यह है—'नारी के जीवन में
आँचल में दूध और आँखों में आँसू'।

व्यङ्ग्य अर्थ है—'वात्सल्य भाव और विप्रलम्भ
'हाय' पद के द्वारा व्यङ्ग्य दैन्य भाव।

२ उत्तम काव्य

जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ चमत्कार-जनक तो हो,
न हो, वह उत्तम काव्य होता है।

इसे गुणीभूत व्यङ्ग्य भी कहते हैं, क्योंकि इस
वाच्यार्थ के प्रति गुणीभूत-गौण-रहता है।

उदाहरण—

रघुवर विरहानल तपे सह्य शैल के अन्त।
सुख सों सोये शिशिर में कपि कोपे हनुमन्त॥

—रसगङ्गाधर-अनूदित—पुरुषोत्तम

जब हनुमान् जी सीता जी का कुशल-समाचार ल
उससे रामचन्द्र जी को धैर्य मिला है—उस प्रसङ्ग
वर्णन है।

वाच्यार्थ है—भगवान् रामचन्द्र के वियोग की
ज्वालाओं से गरम हुए सह्य पर्वत के शिखरों पर शी
से सोये हुए वन्दर हनुमान् जी पर क्रुद्ध हो रहे हैं।

व्यङ्ग्य अर्थ है—हनुमान् जी ने सीता जी का कुशल-समाचार सुनाकर रामचन्द्र जी के विरहानल को शान्त कर दिया।

यहाँ वाच्य अर्थ व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा ही सिद्ध होता है, क्योंकि जब व्यङ्ग्य अर्थ समझ मे आता है कि रामचन्द्र जी की वियोगाग्नि शान्त हो गई और उससे सह्य पर्वत के शिखर ठंडे पड़ गये। तभी 'हनुमान् जी पर बन्दरों का आकस्मिक कोप' रूप वाच्य अर्थ सिद्ध होता है, क्योंकि ठंड के कारण ही बन्दरों ने हनुमान् जी पर कोप किया।

अतः व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ का साधक होने से गौण हो गया, उसके विना वाच्यार्थ बनता ही नहीं। वाच्यार्थ के साधक होने से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता नष्ट हो गई, क्योंकि यह नियम है कि वाच्यार्थ का साधक व्यङ्ग्य अर्थ गौण होता है।

पर गौण होने पर भी यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की सुन्दरता-चमत्कार-स्पष्ट प्रतीत होता है ठीक उस प्रकार, जिस प्रकार दुर्भाग्यवश यदि कोई रानी किसी की दासी बनकर रह रही हो, पर उसका अनुपम सौन्दर्य उस अवस्था में भी झलकता रहता है।

उत्तमोत्तम और उत्तम काव्य का अन्तर

इन दोनों मे व्यङ्ग्य अर्थ चमत्कार-युक्त अर्थात् सुन्दर होता है, पर अन्तर इतना है कि उत्तमोत्तम काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ प्रधान रहता है और उत्तम काव्य में अप्रधान।

यहाँ वाच्य अर्थ यह है—'नारी के जीवन में दो बातें हैं- आँचल में दूध और आँखों मे आँसू'।

व्यङ्ग्य अर्थ है—'वात्सल्य भाव और विप्रलम्भ शृङ्गार व 'हाय' पद के द्वारा व्यङ्ग्य दैन्य भाव।

२ उत्तम काव्य

जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ चमत्कार-जनक तो हो, पर प्रधान न हो, वह उत्तम काव्य होता है।

इसे गुणीभूत व्यङ्ग्य भी कहते हैं, क्योंकि इसमे व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ के प्रति गुणीभूत—गौण—रहता है।

उदाहरण—

रघुवर विरहानल तपे सह्य शैल के अन्त।
सुख सों सोये शिशिर में कपि कोपे हनुमन्त॥

—रसगङ्गाधर-अनूदित—पुरुषोत्तम चतुर्वेदी

जब हनुमान् जी सीता जी का कुशल-समाचार लाये हैं और उससे रामचन्द्र जी को धैर्य मिला है—उस प्रसङ्ग का यह वर्णन है।

वाच्यार्थ है—भगवान् रामचन्द्र के वियोग की आग की ज्वालाओं से गरम हुए सह्य पर्वत के शिखरों पर शीत-काल में सुख से सोये हुए बन्दर हनुमान् जी पर क्रुद्ध हो रहे हैं।

जितने अर्थालंकार-प्रधान काव्य हैं उनका अन्तर्भाव इन उत्तम और मध्यम काव्यों में होता है।

अधम काव्य

जहाँ शब्द का चमत्कार प्रधान हो और अर्थ का चमत्कार शब्द-चमत्कार की शोभा बढ़ाने वाला हो, वह अधम काव्य होता है।

उदाहरण—

दलौ त्रिशूल त्रिशूलधर, त्रिभुवन प्रलयकारि।
हर त्र्यम्बक त्रैलोक्यगर, त्रिदश-ईश त्रिपुरारि॥

—वीर-सतसई

यहाँ अर्थ मे चमत्कार है, पर वह शब्द-चमत्कार अनुप्रास की शोभा बढ़ाने के लिये ही आया है। क्योंकि यहाँ कवि का विशेष प्रयास अनुप्रास की योजना में ही प्रतीत होता है, अर्थ-चमत्कार के लिये नहीं।

मध्यम और अधम काव्य को ही चित्रकाव्य कहते हैं। मध्यम काव्य वाच्यचित्र और अधम काव्य शब्दचित्र काव्य कहा जाता है।

जहाँ अर्थ-चमत्कार बिलकुल न हो केवल शब्द-चमत्कार हो। जैसे—एकाक्षर पद्य, अर्धावृत्ति यमक, पद्मबन्ध (जिसमें कमल का चित्र पद्य के अक्षरों के द्वारा बनता है) आदि चित्र अलंकार प्रभृति। वे काव्य ही नहीं कहे जा सकते, क्योंकि रमणीय अर्थ के

२ मध्यम काव्य

जहाँ वाच्य अर्थ स्पष्ट-चमत्कार-युक्त हो और व्यङ्गय अर्थ में चमत्कार स्पष्ट न हो उसे मध्यम काव्य कहते हैं।

उदाहरण—

> कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
> वहि खाये बौराय जग, इहि पाये बौराय॥
>
> —बिहारी

यहाँ वाच्य अर्थ मे चमत्कार स्पष्ट है। काव्यलिङ्ग और व्यतिरेक अलंकार ही यहाँ चमत्कार के कारण हैं। यद्यपि 'पाने से ही पागल हो जाना' रूप वाच्य अर्थ से 'परिणाम मे अनर्थों की अधिकता' रूप व्यङ्गय अर्थ भी है और वह किसी अंश तक चमत्कारयुक्त भी है, पर वह चमत्कार काव्यलिङ्ग और व्यतिरेक अलंकार के चमत्कार के अन्दर छिप सा गया है। इनके चमत्कार पर ही पाठक और श्रोता का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट होता है। अतः चमत्कार वाच्य अर्थ मे स्पष्ट होने से और व्यङ्गय अर्थ में अस्पष्ट रहने से, यह मध्यम काव्य है।

इसमे कोई संदेह नहीं कि कोई भी वाच्य अर्थ ऐसा नहीं जो बिना व्यङ्गय अर्थ के थोड़ा बहुत सम्बन्ध रखे स्वतः चमत्कार उत्पन्न कर सके अर्थात् वाच्य अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करने के लिये व्यङ्गय का सम्बन्ध परमावश्यक है।

द्वितीय अध्याय

शब्द-शक्ति-विवेचन

पहले अध्याय मे बताया गया है कि 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक वाक्य को काव्य कहते हैं।' यह अर्थ तीन प्रकार का है—१ वाच्य, २ लक्ष्य, और ३ व्यङ्ग्य। अर्थ-भेद से शब्द के भी तीन भेद हैं—१ वाचक, २ लक्षक, और ३ व्यञ्जक। अर्थ-बोध कराने में शब्द का जो व्यापार होता है वह भी इसी कारण तीन प्रकार का है—१ अभिधा, २ लक्षणा, और ३ व्यञ्जना। इस अध्याय में इन्हीं तीनों का—शब्द, अर्थ और व्यापार का तथा इनके भेदों का वर्णन किया जायगा।

शब्द, अर्थ और व्यापार का परस्पर सम्बन्ध

इनके लक्षण करने के पूर्व यहाँ यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है? और इनके भिन्न-भिन्न रूप क्यों हो जाते हैं? शब्द का स्वभाव है अर्थ-बोध कराना। शब्द बिना अर्थ के नहीं ठहर सकता और न अर्थ ही शब्द के बिना। निरर्थक शब्द काव्य के विषय नहीं, इसलिये कोई

प्रतिपादक वाक्य को काव्य कहा गया है। केवल शब्द-
के स्थल में अर्थ के रमणीय न होने के कारण काव्य कह
नहीं। इस कारण इन्हे यहाँ काव्य के अन्तर्गत नहीं र
प्राचीन आचार्यों ने उन्हे परम्परा का पालन करते
के अन्तर्गत लिख डाला, पर वस्तुतः वे काव्य नहीं।

इस अध्याय मे बहुत से पारिभाषिक शब्द अ
उनका यथास्थान अपने-अपने अध्याय में विवेचन किय
यहाँ साधारण रूप से उन्हे समझ लेना चाहिये। विशेष
उनके अपने प्रकरण से होगा।

द्वितीय अध्याय

शब्द-शक्ति-विवेचन

पहले अध्याय मे बताया गया है कि 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक वाक्य को काव्य कहते हैं।' यह अर्थ तीन प्रकार का है—१ वाच्य, २ लक्ष्य, और ३ व्यङ्गय। अर्थ-भेद से शब्द के भी तीन भेद हैं—१ वाचक, २ लक्षक, और ३ व्यञ्जक । अर्थ-बोध कराने मे शब्द का जो व्यापार होता है वह भी इसी कारण तीन प्रकार का है—१ अभिधा, २ लक्षणा, और ३ व्यञ्जना। इस अध्याय में इन्हीं तीनों का—शब्द, अर्थ और व्यापार का तथा इनके भेदों का वर्णन किया जायगा।

शब्द, अर्थ और व्यापार का परस्पर सम्बन्ध

इनके लक्षण करने के पूर्व यहाँ यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? और इनके भिन्न-भिन्न रूप क्यों हो जाते हैं ? शब्द का स्वभाव है अर्थ-बोध कराना । शब्द विना अर्थ के नहीं ठहर सकता और न अर्थ ही शब्द के विना। निरर्थक शब्द काव्य के विषय नहीं, इसलिये कोई

त्ति नहीं। शब्दों का प्रयोग वाक्यों मे हुआ करता है। भिन्न-
वाक्यों में प्रयुक्त एक ही शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ होता है।
शब्द के द्वारा सदा एक ही अर्थ का भान हुआ करता, तब तो
अड़चन न होती। परन्तु ऐसा है नहीं। एक ही 'गङ्गा' शब्द
गङ्गा तट पर आश्रम है' इस वाक्य में प्रयुक्त होता है तब 'जल
ारा' रूप अर्थ का बोध कराता है और जब 'गङ्गा पर आश्रम
स वाक्य मे उसका प्रयोग होता है, तब उसी गङ्गा शब्द से
रूप अर्थ का बोध होता है। इसी प्रकार 'गधा बोझ ले जा
है' इस वाक्य मे प्रयुक्त 'गधा' शब्द का अर्थ है 'लम्बे कानों
पशुविशेष।' पर 'देवदत्त गधा है' इस वाक्य मे प्रयुक्त 'गधा'
का अर्थ हो जाता है 'मूर्ख देवदत्त'।

कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द का भिन्न-भिन्न वाक्यों में
ानुकूल भिन्न-भिन्न अर्थ हुआ करता है और भिन्न-भिन्न अर्थ का
कराने के लिये व्यापार भी शब्द का भिन्न-भिन्न हो जाता है।
बोधक है, अर्थ बोध्य है और व्यापार अर्थ-बोध कराने की
में रहने वाली शक्ति।

शब्द

जिसमें अर्थ-बोध करने की शक्ति हो ऐसे वर्णसमूह
शब्द कहते हैं।

गाय, बल आदि शब्द हैं। क्योंकि इनमें अर्थ-बोध कराने की
ि है, अन्यथा इनके सुनने पर श्रोता को अर्थ-बोध न हुआ
और अर्थ-बोध न होने से प्रवृत्ति भी नहीं।

अर्थ

शब्द सुनने पर श्रोता को जिस-जिसका ज्ञान होता है वह उस शब्द का अर्थ कहा जाता है।

गाय, बैल और घोडा आदि शब्दों के सुनने पर सींग पूँछ वाले उन-उन अर्थों का बोध होता है, इसलिये वे अर्थ हैं।

वह अर्थ बुद्धि में रहता है, इसलिये बौद्ध कहा जाता है, जब शब्द के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि 'शब्द का अर्थ समझ में आ गया' तब उसका तात्पर्य 'बुद्धि मे वर्तमान' अर्थ से है, न कि लोक मे वर्तमान अर्थात् लौकिक। इसी लिये शब्द और अर्थ का तादात्म्य—अभेद माना गया है। लौकिक अर्थ के साथ तो शब्द का अभेद कथमपि नहीं बन सकता।

शब्द के श्रवण के अनन्तर जिन-जिन विषयों का ज्ञान होगा, वे सब उस शब्द के अर्थ समझने चाहिएँ। 'गङ्गा पर आश्रम है' यहाँ गङ्गा शब्द के अनन्तर-जल की धारा, शीतलता आदि अर्थ प्रतीत होते हैं, ये सब गङ्गा शब्द के ही अर्थ हैं। पर प्रत्येक अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द में पृथक् पृथक् व्यापार होता है। शब्द के इन व्यापारों को ही शक्ति कहते हैं। अब यहाँ शक्ति का विचार उपस्थित हो गया, अत: उसी का निरूपण किया जाता है।

अर्थ शब्द का प्रयोग साधारण-रूप से वाच्य अर्थ के लिये ही होता है। क्योंकि लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ सर्वत्र नहीं प्रतीत होते, पर वाच्य अर्थ सर्वत्र प्रतीत होता है।

अर्थ के लिये 'पदार्थ' शब्द का भी प्रयोग होता है।

अभिधा

शब्द की उस शक्ति को अभिधा कहते हैं जिसके द्वारा शब्द के सङ्केतित अर्थात् साधारण बोलचाल में प्रसिद्ध अर्थ का ज्ञान हो।

अभिधा के लक्षण को स्पष्ट करने के लिये 'सङ्केतित अर्थ' का आशय समझना आवश्यक है।

जिस अर्थ मे शब्द का सङ्केत हो वह सङ्केतित अर्थ होता है। सङ्केत शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध है। 'गधा' शब्द का सङ्केत 'लम्बे कान वाले पशुविशेष' मे है अतः 'गधा' शब्द का वह सङ्केतित अर्थ है। सङ्केत का रूप यह है—'इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिये अथवा इस अर्थ का ज्ञान इस शब्द से करना चाहिये'। 'गधा' शब्द से लम्बे कान वाला पशुविशेष समझना चाहिये अथवा लम्बे कान वाले पशुविशेष का ज्ञान 'गधा' शब्द से करना चाहिये' यह 'गधा' शब्द का सङ्केत है। इसी प्रकार अन्य शब्दों के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिये।

यह सङ्केत कब से चला और किसने चलाया? इसके सम्बन्ध में कोई तो ईश्वर को कर्ता मानते हैं और कोई अनादि-परम्परा को। हाँ, कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनका सङ्केत लोग स्वयं करते हैं। लोग अपने लड़कों तथा अपनी रची हुई पुस्तकों का 'नाम-करण' करते हैं। इसी लिये इस सङ्केतित अर्थ को बोध

कराने वाली शक्ति का नाम अभिधा रखा गया है। अभिधा का अर्थ है नाम, क्योंकि यह नाम मे रहती है।

अर्थ-बोध का कारण

यहाँ पर यह जान लेना भी आवश्यक है कि शक्ति का ज्ञान अर्थ के ज्ञान का कारण है। जब तक शब्द की शक्ति का ज्ञान न हो अर्थात् जब तक यह न मालूम हो कि इस शब्द की शक्ति किस अर्थ के बोध कराने में है तब तक शब्द से अर्थ का ज्ञान नहीं होता। अतएव मनुष्य को जिन भाषाओं का ज्ञान नहीं होता, उनका अर्थ वह नहीं समझ सकता, क्योंकि उसको यह मालूम नहीं कि इन शब्दों की शक्ति किस अर्थ में है।

शक्ति-ज्ञान के साधन

शक्ति-ज्ञान के कई उपाय हैं—१. व्याकरण, २. कोष, ३. आप्त-वाक्य, ४. व्यवहार आदि।

आजकल व्यवहार से ही प्रायः शक्ति-ज्ञान होता है, उसके बाद कोष से। किसी शब्द के अर्थ का पता न चलता हो तो कोष देखकर निर्णय कर लिया जाता है। विद्यालयों मे या घरों में आप्त-जनों के कथन से भी होता है। कोष भी एक प्रकार से आप्तवाक्य ही है। व्यवहार में आने वाली भाषाओं के शब्दों का शक्ति-ज्ञान व्यवहार से ही हो जाता है, व्याकरण की उसमे अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती। अतएव हिन्दी भाषा के शक्ति-ज्ञान के लिये अभी व्याकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु संस्कृत आदि

जो भाषाएँ अब व्यवहार में नहीं आतीं, उनके शब्दों के शक्ति ज्ञान के लिये व्याकरण परम आवश्यक साधन है।

शब्द का सङ्केत जिन जिन अर्थों मे होगा, वे सब उस शब्द के अर्थ होंगे। कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका प्रायः एक ही अर्थ में सङ्केत है, ऐसे शब्दों को एकार्थक शब्द कहा जाता है। कुछ ऐसे भी हैं जिनका अनेक अर्थों मे सङ्केत है। जैसे गुण शब्द का सङ्केत रस्सी मे भी है, उदारता आदि गुणों मे भी है और सत्त्व, रज तम गुणों मे भी है। ऐसे शब्दों को अनेकार्थक अथवा नानार्थ शब्द कहते हैं। कोष के द्वारा ऐसे शब्दों के सङ्केत का ज्ञान होता है

वाक्य के अन्तर्गत शब्द के अर्थ का विचार

यह पहले कहा जा चुका है कि शब्दों का प्रयोग वाक्य रूप मे अर्थ-बोध कराने के उद्देश्य से होता है। जो शब्द एकार्थक हैं, उनके अर्थ समझने मे तो कोई कठिनाई नहीं, पर जो शब्द अनेकार्थक हैं, उनका वाक्य के अन्तर्गत रहते क्या अर्थ है? इसका निर्णय संयोग आदि के द्वारा किया जाता है।

संयोग आदि निम्नलिखित हैं—१ संयोग, २ विप्रयोग, ३ साहचर्य, ४ विरोध, ५ प्रयोजन, ६ प्रकरण, ७ चिह्न, ८ अन्य शब्द का सन्निधान, ९ सामर्थ्य, १० औचिती, ११ देश, १२ काल।

१ संयोग—सम्यक् योग सम्बन्ध अर्थात् सदा साथ रहना। जैसे—'शङ्ख-चक्र-धारी हरि[1] आ रहे हैं'। इस वाक्य मे प्रयुक्त हरि

[1] विष्णु, सिंह, सूर्य, घोड़ा, बन्दर, चोर आदि अनेक अर्थ हरि के हैं।

शब्द का विष्णु भगवान् अर्थ शङ्ख-चक्र के संयोग के कारण लिया जायगा। शङ्ख-चक्र का उनके साथ संयोग है।

२. विप्रयोग—जिनका संयोग हो, उनके अभाव-के वर्णन करने को विप्रयोग कहते हैं। जैसे—'शङ्ख-चक्र-रहित हरि'। यहाँ शङ्ख-चक्र-रहित कहने से 'हरि' का अर्थ 'विष्णु' ही होगा, क्योंकि जिनके पास शङ्ख-चक्र होंगे, उन्हीं के लिये तो उनके अभाव का वर्णन होगा। जिनके पास पहले ही नहीं, उनके लिये थोड़े ही ऐसा प्रयोग किया जाता है।

३. साहचर्य—साथ रहने को साहचर्य कहते हैं। जैसे 'राम[1] और लक्ष्मण'। इस वाक्य में लक्ष्मण के साहचर्य से राम शब्द का अर्थ 'दशरथ का पुत्र' ही लिया जायगा। राम और लक्ष्मण का साहचर्य (साथ) प्रसिद्ध है।

४. विरोध—(वैर या साथ न रह सकना)—'मत्त-नाग-तम-कुम्भ-विदारी। शशि-केसरी गगन-वन-चारी।' यहाँ सिंह के विरोध के कारण 'नाग[2]' शब्द का 'हाथी' ही अर्थ लिया गया। हाथी और सिंह का वैर प्रसिद्ध है।

५. प्रयोजन—जिस उद्देश्य से कार्य किया जाता है, उसे प्रयोजन कहते हैं। उदाहरण—'हरि को पुकारा भक्त ने सङ्कट निवारण के लिये' यहाँ 'सङ्कट-निवारण' रूप प्रयोजन के कारण 'हरि' शब्द का 'भगवान् विष्णु' ही अर्थ लिया जायगा।

---

१ राम शब्द के तीन अर्थ हैं—१ परशुराम, २ दशरथ के पुत्र, ३ बलराम। २. हाथी, साँप आदि।

६. प्रकरण—बातचीत के प्रसङ्ग-अवसर को प्रकरण कहते हैं। उदाहरण—'सुधावृष्टि भइ दुहुँ दल ऊपर' यहाँ युद्ध के प्रकरण में होने से 'दल'[1] शब्द का 'सेना' अर्थ ही समझा जायगा। इसी प्रकार 'सैन्धव' शब्द का भोजन के प्रसङ्ग में 'नमक' और यात्रा के प्रसङ्ग में 'घोड़ा' अर्थ लिया जायगा।

७. चिह्न—उस धर्म को कहते हैं जो नानार्थ शब्द के वाच्य किसी एक अर्थ में ही रहे अन्य में नहीं। उदाहरण—'काम कुसुम-धनु सायक लीन्हे' यहाँ 'फूलों के बाण और धनुष' रूप चिह्न से 'काम'[2] शब्द का अर्थ 'कामदेव' ही लिया जायगा। 'काम' शब्द के अन्य अर्थों में ये नहीं रहते।

८. अन्य शब्द का सन्निधान—अन्य शब्द के समीप रहने को कहते हैं। उदाहरण—'राम में बहुत गुण हैं'। यहाँ राम आदि अन्य शब्दों की समीपता के कारण 'गुण'[3] शब्द का 'उदारता' आदि अर्थ है।

९. सामर्थ्य—कारण को सामर्थ्य कहते हैं। उदाहरण—'कोयल मधु से उन्मत्त हो रही है'। यहाँ 'मधु'[4] शब्द का अर्थ 'वसन्त' लिया जायगा, क्योंकि वसन्त ही कोयल की उन्मत्तता का कारण है।

१०. औचिती—योग्यता को औचिती कहते हैं। उदाहरण—'यहि विधि आई बिलोकी वेनी। सुमिरत सकल-सुमङ्गल-देनी।'

---

१ सेना, पत्ता आदि। २. कामदेव, अभिलाषा, कार्य। ३. गुण उदारता आदि, रस्सी आदि। ४ वसन्त, शहद आदि।

यहाँ 'वेनी'[1] शब्द का अर्थ 'त्रिवेणी—गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम' ही लिया जायगा, क्योंकि मङ्गल देने की योग्यता इसी मे है।

११ देश (स्थान)—'वैकुण्ठ मे हरि रहते हैं' इस वाक्य मे 'हरि' पद का अर्थ 'भगवान् विष्णु' है, क्योंकि वैकुण्ठ-लोक रूप स्थान में वही रहते हैं। 'मरु-भूमि मे जीवन कम मिलता है' मे मरु-देश के कारण 'जीवन'[2] शब्द का अर्थ 'जल' लिया जायगा।

१२. काल (समय)—यह भी अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ का निर्णायक है। उदाहरण—'चातुर्मास में हरि सोते हैं'। यहाँ चातुर्मास—वर्षा और शरद् ऋतु के चार महीने-काल के कारण 'हरि' शब्द का अर्थ 'विष्णु भगवान्' ही लिया जायगा, क्योंकि उन चार महीनों मे वही सोते रहते हैं—यह पुराण का कथन है।

इन पूर्वोक्त हेतुओं से वाक्य मे प्रयुक्त नानार्थ शब्द के एक अर्थ का निर्णय हो जाता है, परन्तु यदि कहीं वक्ता का तात्पर्य अनेक अर्थ बताने से होगा तो वहाँ उन सब का भी बोध होगा।

संकेत के चार विषय

अभिधा वृत्ति से बताया जाने वाला अर्थ चार प्रकार का होता है—१ जाति, २ व्यक्ति, ३ गुण, ४ क्रिया रूप। 'रामचरितमानस नामक बड़ा ग्रन्थ छप रहा है' इस वाक्य में 'रामचरितमानस'

१. त्रिवेणी, स्त्री की चोटी (गुप्त)। २. पानी, जीना आदि।

शब्द व्यक्ति रूप, 'बड़ा' शब्द 'बड़ाई' गुण रूप, ग्रन्थ शब्द 'ग्रन्थ' जाति रूप और 'छप रही है' शब्द 'छपना' क्रिया रूप अर्थ का बोध करा रहे हैं। इन्हीं चार जाति, व्यक्ति, गुण और क्रिया रूप अर्थ में इन शब्दों का संकेत है।

अभिधा वृत्ति से बोध्य—बताये जाने वाले—अर्थ को 'अभिधेय' 'वाच्य' और 'मुख्य' कहते हैं। सब से प्रथम यही अर्थ प्रतीत होता है, अतः मुख—आदि मे प्रतीत होने के कारण इसे 'मुख्य' कहते हैं। 'मुख्य' अर्थ के सम्बन्ध से 'अभिधा' वृत्ति को 'मुख्य' वृत्ति कहते हैं, क्योंकि सर्व-प्रथम इसी का कार्य होता है। मुख्य अर्थ का बोध करने वाले शब्द को 'वाचक' शब्द कहते हैं।

अभिधा के अनन्तर लक्षणा का निरूपण किया जाता है।

लक्षणा

मुख्य अर्थ के बाध होने पर उससे सम्बन्ध रखने वाले अन्य अर्थ का बोध कराने वाले शब्द के व्यापार को 'लक्षणा' कहते हैं।

लक्षणा से बोध्य अर्थ को लक्ष्य अर्थ और लक्ष्यार्थ का बोध कराने वाले शब्द को लक्षक तथा लाक्षणिक कहते हैं।

मुख्य अर्थ के बोध का अभिप्राय है शब्द के मुख्य अर्थ का वाक्य के अन्य शब्दों के अर्थ के साथ अन्वय न हो सकना अथवा वक्ता के तात्पर्य का सिद्ध न होना।

लक्षणा की परीक्षा से पता चलता है कि लक्षणा मे तीन होती अर्थ — यह लक्षणा का कारण है,

बिना मुख्यार्थ-बाध के लक्षणा की प्रवृत्ति नहीं होती। २. मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति, यह लक्षणा का कार्य है। लक्षणा की प्रवृत्ति से मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है। ३. मुख्य अर्थ के साथ अन्य अर्थ का सम्बन्ध। कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य होना चाहिये। असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति मे तो अनर्थ हो जायगा। अतः लक्षणा के उदाहरणों मे इन तीनों बातों का सम्यग् अन्वेषण कर लेना चाहिये, तभी आशय स्पष्ट होगा।

उदाहरण—१. वह चौकन्ना हो गया।

१. इस वाक्य का मुख्य अर्थ है—'वह चार कानों वाला हो गया'। परन्तु 'चौकन्ना' शब्द के 'चार कानों वाला' इस सर्व प्रथम प्रतीत होने वाले अर्थ का यहाँ बाध हो जाता है, क्योंकि 'चार कान' तो उसके हो नहीं सकते वह तो दो ही कान वाला है। अतः 'वह' पद के अर्थ के साथ इसका अन्वय नहीं हो पाता, इसलिये यहाँ मुख्य अर्थ का बाध हो गया। २. तब 'चौकन्ना' शब्द का यहाँ 'चार कानों वाला' इस मुख्य अर्थ से भिन्न 'सावधान' यह अर्थ लक्षणा से प्रतीत होता है। ३. 'चौकन्ना' शब्द के मुख्य अर्थ 'चार कानों वाला' और लक्ष्यार्थ 'सावधान' का परस्पर सादृश्य सम्बन्ध है। क्योंकि चार कानों वाला चारों ओर की बातें सुनकर सावधान रह सकता है और 'सावधान' व्यक्ति भी अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता के कारण सब ओर का ध्यान रखता है। अतः यहाँ लक्षणा हुई।

२. पंजाब वीर देश है।

इस वाक्य में 'पंजाब' शब्द लाक्षणिक है। इसका मुख्य अर्थ है 'पाँच नदियों के मध्य की भूमि'। इस अर्थ का वाक्य के अन्य शब्द 'वीर' के अर्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि पंजाब जो भूमि है वह अचेतन है और 'वीरता' चेतन का धर्म है, वह निर्जीव भूमि में कैसे हो सकता है। अत. यहाँ मुख्यार्थ का बाध

है । २. तब यहाँ पंजाब शब्द का भूमि' रूप मुख्य अर्थ को छोड़ कर उससे भिन्न 'भूमि के निवासी लोग' अर्थ लिया जाता है। इस अर्थ का बोध लक्षणा से होता है । ३. मुख्य अर्थ 'भूमि' और लक्ष्यार्थ 'उसके निवासी लोग' का परस्पर आश्रय-आश्रयीभाव सम्बन्ध है । लोग आश्रयी हैं और भूमि आश्रय ।

३. देवदत्त गधा है ।

यहाँ 'देवदत्त' किसी का नाम है, इस शब्द का अर्थ एक व्यक्ति है । 'गधा' शब्द का मुख्य अर्थ है 'लम्बे कानों वाला पशु विशेष' । 'गधा' शब्द के मुख्यार्थ का 'देवदत्त' शब्द के अर्थ के साथ अन्वय यहाँ विवक्षित है । १. पर वह बनता नहीं, क्योंकि जो देवदत्त है, वह लम्बे कानों वाला पशु-विशेष नहीं, अतः दोनों की संगति नहीं होती । अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध है । २. तब 'गधा' शब्द से लक्षणा के द्वारा मुख्य अर्थ से भिन्न 'मूर्ख देवदत्त' यह अर्थ लिया जाता है । ३. गधा शब्द के मुख्यार्थ 'लम्बे कानों वाले पशु-विशेष' और लक्ष्यार्थ 'मूर्ख देवदत्त' मे सादृश्य सम्बन्ध है ।

४. अबे गधे, तू अभी तक नहीं समझा ।

१. यहाँ मूर्ख लड़के के लिये 'गधा' शब्द का प्रयोग किया गया है पर लड़का गधा नहीं हो सकता । इसलिये यहाँ मुख्य अर्थ का बाध है । २. अतः मुख्य अर्थ से भिन्न 'मूर्ख लड़का' यह अर्थ लक्षणा से प्रतीत होता है । ३. मुख्य अर्थ और लक्ष्य अर्थ का यहाँ पर 'सादृश्य' सम्बन्ध है ।

इन दोनों उदाहरणों में 'गधा' शब्द लाक्षणिक है ।

५. घी मेरा जीवन है ।

१. यहाँ 'घी' को जीवन कहा जा रहा है । जीवन शब्द का मुख्य अर्थ 'जीवित रहना' है और 'घी' का 'मक्खन से सिद्ध पदार्थ' । ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? एकता इनकी कहीं

र वह सिद्ध नहीं होती, क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, इनका अभेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं हो सकता, अतः मुख्यार्थ है। २. तब जीवन शब्द का मुख्य अर्थ से भिन्न 'जीवन शक्ति मुख्य कारण' रूप अन्य अर्थ लक्षणा के द्वारा सिद्ध होता है। जीवन शब्द के मुख्यार्थ 'जीवित रहना' का लक्ष्यार्थ 'जीवन क का कारण' के साथ 'कार्य-कारण-भाव' सम्बन्ध है। 'घी' ण है और 'जीवन' कार्य। जीवन शब्द के लक्ष्यार्थ 'जीवन क का कारण' और 'घी' के मुख्यार्थ में इस दशा मे 'अभेद' न्ध जो विवक्षित है सिद्ध हो जाता है।

६. मेरा जीवन ढुल गया।

जब घी के गिर जाने पर कोई यह वाक्य बोले, तब भी णा होगी। यहाँ भी 'घी' और 'जीवन' का अभेद सम्बन्ध क्षित है। १. पर वह दोनों की भिन्नता के कारण उपपन्न नहीं ा, इस प्रकार यहाँ मुख्यार्थ बाध है। २. लक्षणा के द्वारा तब वन' शब्द का मुख्यार्थ से भिन्न 'जीवन का कारण' अर्थ लता है। ३. मुख्य अर्थ 'जीवित रहना' और 'जीवन का रण' इस लक्ष्यार्थ का परस्पर 'कार्य-कारण-भाव' सम्बन्ध है।

७. आम तो आम ही हैं।

यहाँ 'आम' शब्द दो बार आया है। १. यदि दोनों का एक अर्थ लिया जाय तो एक शब्द निरर्थक हो जायगा। ऐसी दशा क्ता का तात्पर्य सिद्ध न होगा, अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध है। तब लक्षणा के द्वारा दूसरे 'आम' शब्द का 'सरसता-मधुरता-दि-गुण-विशिष्ट आम' अर्थ का बोध होता है। ३. यहाँ आम द के वाच्यार्थ 'आम' और लक्ष्यार्थ 'सरसतादि-गुण-विशिष्ट म' का परस्पर 'सामान्य-विशेष-भाव' सम्बन्ध है। वाच्य 'आम' ान्य है और लक्ष्य 'आम' विशेष।

८. गङ्गा पर आश्रम है।

यहाँ गङ्गा पद में लक्षणा है। १. 'गङ्गा' पद का मुख्य अर्थ 'जल का प्रवाह' है। उसे आश्रम का आधार कहा गया है पर 'जल के प्रवाह' में आश्रम का होना असंभव है, मुख्यार्थ की सङ्गति नहीं होती अर्थात् मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। २. त लक्षणा के द्वारा 'गङ्गा' पद से 'जल-प्रवाह' रूप मुख्यार्थ से भि 'तट' रूप अन्य अर्थ का बोध होता है। ३. 'गङ्गा' पद मुख्यार्थ 'जल-प्रवाह' के साथ लक्ष्यार्थ 'तट' का सामीप सम्बन्ध है।

ये उपर्युक्त आठ उदाहरण विशेष अभिप्राय से दिये गये हैं आगे के विवरण से अभिप्राय स्पष्ट होगा।

—लक्षणा के भेद।

लक्षणा के पहले दो भेद हैं—१. रूढ़ा, २. प्रयोजनवती। इन प्रयोजनवती के भी दो भेद हैं—१. गौणी और २. शुद्धा। गौणी के भी दो भेद हैं—१ सारोपा, २ साध्यवसाना। शुद्धा के चार भे हैं—१. सारोपा, २. साध्यवसाना, ३. अजहत्स्वार्था, ४. जहत्स्वार्था।

कोई कोई आचार्य रूढा के भी—१. गौणी और २. शुद्धा दो भेद मानते हैं।

इस प्रकार लक्षणा के निम्नलिखित ८ भेद हुए—१. रू गौणी, २. रूढा शुद्धा, ३. प्रयोजनवती गौणी सारोपा, ४. प्रयो वती गौणी साध्यवसाना, ५. प्रयोजनवती शुद्धा सारोपा, प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना, ७. प्रयोजनवती शुद्धा अजहत्स्व ८. प्रयोजनवती शुद्धा जहत्स्वार्था।

पूर्वोक्त आठ उदाहरण क्रम से इन्हीं आठ भेदों के गये हैं। अब आगे इनके लक्षण कहे जायँगे

रूढा

रूढि होने से जहाँ लक्षणा होती है, वहाँ रूढा लक्षणा कही जाती है।

रूढि कहते हैं प्रसिद्धि को अर्थात् रीति (प्राचीन-परम्परा) को। जहाँ प्रसिद्धि के कारण शब्द का मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयोग होगा, वहाँ रूढा लक्षणा होगी।

'देवदत्त चौकन्ना है' वाक्य मे 'चौकन्ना' शब्द का 'चार कानों वाले' मुख्य अर्थ से भिन्न 'सावधान' अर्थ मे प्रयोग प्रसिद्ध हो गया है अर्थात् ऐसा प्रयोग परम्परा से होता चला आ रहा है। अतः यहाँ रूढा लक्षणा है।

इसी प्रकार अनुकूल, प्रतिकूल, कुशल, तलवार के लिये 'सिरोही' का प्रयोग—(क्योंकि सिरोही स्थान की तलवारें बढ़िया होती थीं, पहले 'सिरोही की तलवार' ऐसा ही प्रयोग होता रहा होगा, कालान्तर मे केवल 'सिरोही' शब्द प्रसिद्ध हो गया) रूढा लक्षणा के उदाहरण हैं।

परन्तु यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग-स्थल मे मुख्य अर्थ के रूप मे यदि यौगिक अर्थ का बोध होता हो तो उन्हे लक्षणा का उदाहरण समझना चाहिये। अन्यथा यदि उस अर्थ का बोध न होता हो—यही अनुभव-सिद्ध हो तो, इन्हे लक्षणा का उदाहरण न समझना चाहिये। कई आचार्यों ने अतएव इस प्रकार के शब्दों को लाक्षणिक नहीं माना है।

'पञ्जाब वीर देश है' इस दूसरे उदाहरण में लक्षणा प्रसिद्धि के कारण हुई। यहाँ 'पञ्जाब' शब्द के 'भूमि' रूप मुख्य अर्थ की प्रतीति अनुभव-सिद्ध है। अतः यहाँ लक्षणा है। देश का देश-वासियों के लिये प्रयोग करने की रीति चल पड़ी हुई है।

गौणी

जहाँ मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सादृश्य सम्बन्ध अर्थात् सादृश्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो, व गौणी लक्षणा होती है ॥

गौणी इसलिये कहते हैं कि इसमे गुण कारण हैं। मु के गुणों के सदृश गुण लक्ष्यार्थ में होने से लाक्षणिक शब्द प्रयोग होता है।

'देवदत्त चौकन्ना है' इस उदाहरण मे मुख्यार्थ 'चार क वाला' और लक्ष्यार्थ 'सावधान' का परस्पर सादृश्य सम्बन्ध अतः सादृश्य सम्बन्ध के कारण होने से यहाँ 'गौणी' लक्षणा है

'चार कानों वाला' मुख्यार्थ मे 'चारों ओर का ध्यान गुण है, उसी के समान गुण 'सावधान देवदत्त' रूप लक्ष्यार्थ मे भी

गौणी लक्षणा का मूल मुख्यार्थ के गुणों के सदृश का लक्ष्यार्थ मे पाया जाना है।

शुद्धा

जहाँ मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सादृश्य से सम्बन्ध हो, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है।

'पंजाब वीर देश है' इस रूढि के उदाहरण मे मु 'भूमि' और लक्ष्यार्थ 'भूमि-निवासी लोग' का सादृश्य से 'आश्रय-आश्रयीभाव' सम्बन्ध है। 'भूमि' आश्रय-आधा और लोग आश्रयी।

प्रयोजनवती

जहाँ लाक्षणिक शब्द का प्रयोग विशेष प्रयोजन बताने के उद्देश्य से किया गया हो अर्थात् जब वाचक

अभीष्ट प्रयोजन का बोध न हो सके, तब उसके बोध के लिये लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया गया हो—वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है।

उदाहरण—'देवदत्त गधा है'—यहाँ देवदत्त की मूर्खता की अधिकता बताने से तात्पर्य है, यदि 'मूर्ख' इस वाचक शब्द का प्रयोग किया जाय तो वह प्रयोजन नहीं प्रतीत होता। इसके स्थान पर जब लाक्षणिक 'गधा' पद का प्रयोग किया जाता है तब 'मूर्खता का अतिशय' प्रयोजन—जो विवक्षित है—सिद्ध हो जाता है। अतः यहाँ विशेष प्रयोजन के कारण लाक्षणिक पद का प्रयोग होने से 'प्रयोजनवती' लक्षणा है।

'गङ्गा पर आश्रम है'—इस उदाहरण में भी गङ्गा पद का लाक्षणिक प्रयोग 'शीतलता और पवित्रता का अतिशय' बोध कराने के प्रयोजन से हुआ है। यदि वाचक 'तट' शब्द का प्रयोग किया जाय, तो उक्त प्रयोजन नहीं सिद्ध होता, क्योंकि तट तो दूर तक होता है। जब 'तट' रूप अर्थ को 'गङ्गा' इस लाक्षणिक शब्द के द्वारा बताया जाता है, तब वक्ता का अभिप्राय आश्रम की 'शीतलता, और पवित्रता की अधिकता' रहता है। अतः प्रयोजन की विवक्षा होने से यहाँ भी प्रयोजनवती लक्षणा है।

अन्तिम छः उदाहरणों में 'प्रयोजन' कारण होने से 'प्रयोजनवती' लक्षणा है। इसी प्रकार औरों में भी 'प्रयोजन' का समन्वय करना चाहिये।

प्रयोजनवती के छः भेद होते हैं यह पहले कहा जा चुका है। उनमें प्रथम 'गौणी' और 'शुद्धा' ये दो भेद होते हैं। 'गौणी' और 'शुद्धा' के लक्षण पहले दिखाये जा चुके हैं।

'देवदत्त गधा है' और 'गङ्गा पर आश्रम है' इन दो उदाहरणों में क्रम से गौणी और शुद्धा लक्षणा हैं। क्योंकि

पहले उदाहरण मे 'गधा' रूप वाच्यार्थ और 'मूर्ख देवदत्त' रूप लक्ष्यार्थ का सादृश्य सम्बन्ध है और दूसरे उदाहरण में 'जलप्रवाह' रूप मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ 'तट' का सादृश्य से भिन्न 'सामीप्य' रूप सम्बन्ध है।

प्रयोजन मे जो गौणी लक्षणा होती है—उसके दो भेद हैं—१. सारोपा और २. साध्यवसाना।

'सारोपा' और 'साध्यवसाना' को समझने के लिये पहले 'आरोप' और 'अध्यवसान' का अर्थ समझ लेना अत्यावश्यक है।

आरोप—विषय और विषयी का पृथक् पृथक् उपादान करते हुए उनका जो अभेद वर्णन किया जाता है, उसे 'आरोप' कहते हैं।

गौणी का मूल सादृश्य सम्बन्ध है। उन दो पदार्थों का—जिनका सादृश्य वर्णन होता है—काव्य-शास्त्र में 'उपमेय' और 'उपमान' नाम है। जिसका वर्णन किया जाता है वह 'उपमेय' कहा जाता है और जिसके साथ 'सादृश्य' बताया जाता है उसे 'उपमान' कहते हैं। उपमेय को 'विषय' और उपमान को 'विषयी' भी कहते हैं।

'उपमेय' और 'उपमान' दोनों का उपादान कर अभेद वर्णन को आरोप कहते हैं—यह फलित हुआ।

अध्यवसान—जब 'विषय' का अर्थात् उपमेय का पृथक् निर्देश न कर विषय और विषयी अर्थात् उपमेय और उपमान का अभेद वर्णन हो, तब अध्यवसान कहते हैं।

इसमें उपमेय को उपमान अपने में सर्वथा लीन कर देता है, अतः उसके पृथक् उपादान की आवश्यकता नहीं रह जाती।

सारोपा

जहाँ आरोपपूर्वक लाक्षणिक प्रयोग किया गया हो अर्थात् विषय और विषयी दोनों का पृथक् पृथक् उपादान किया गया हो वहाँ सारोपा लक्षणा होती है।

उदाहरण—'देवदत्त गधा है'।

यहाँ 'देवदत्त' विषय–उपमेय–का और 'गधा' विषयी का अर्थात् उपमान का पृथक् शब्दों से उपादान किया गया है, अतः 'सारोपा' है।

साध्यवसाना

जहाँ विषय का विषयी से अध्यवसान किया गया हो अर्थात् विषय का ग्रहण पृथक् न किया गया हो, वहाँ 'साध्यवसाना' लक्षणा होती है।

उदाहरण—'अबे गधे, तू समझता नहीं'।

यहाँ 'गधा' विषयी उपमान है, उसके द्वारा विषय–उपमेय-रूप लड़के का सर्वथा अध्यवसान अर्थात् अपने मे लीन कर दिया गया है, अतः यहाँ 'साध्यवसाना' लक्षणा है।

ये दोनों उदाहरण सादृश्य सम्बन्ध के कारण 'गौणी सारोपा' और 'गौणी साध्यवसाना' के हैं। 'मूर्खता का अतिशय' बोधन रूप प्रयोजन के कारण प्रयोजनवती है।

गौणी सारोपा 'रूपक' अलंकार का और गौणी साध्यवसाना 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार का मूल है। अलंकारों के प्रकरण में यह स्पष्ट होगा।

प्रयोजनवती शुद्धा के भेद

प्रयोजनवती का दूसरा भेद है 'शुद्धा'। इसका लक्षण पहले दिया जा चुका है। इसके चार भेद हैं—१. सारोपा, २. साध्यवसाना, ३. अजहत्स्वार्था, ४. जहत्स्वार्था।

'सारोपा' और 'साध्यवसाना' का लक्षण पहले दिया जा चुका है—फिर लिखने की आवश्यकता नहीं।

उदाहरण—घी ही मेरा जीवन है।

यहाँ 'जीवन' शब्द मे लक्षणा है। जीवन का मुख्य अर्थ है 'जीवनशक्ति' और लक्ष्यार्थ है 'जीवन शक्ति का कारण'। इनका परस्पर 'कार्यकारणभाव' सम्बन्ध है। यह सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध है, अतः यहाँ शुद्धा लक्षणा है।

'घी' विषय और 'जीवन' विषयी का पृथक् पृथक् उपादान करके अभेद वर्णन किया गया है, अतः आरोप होने से 'सारोपा' लक्षणा हुई।

'जीवन का कारण' इस वाचक शब्द के द्वारा न कहकर लाक्षणिक प्रयोग का प्रयोजन है—'घी मे जीवनशक्ति सुरक्षित करने का अन्य कारणों की अपेक्षा निश्चित सामर्थ्य'। अतः प्रयोजन के कारण लाक्षणिक प्रयोग होने से यह प्रयोजनवती भी है।

उदाहरण—'मेरा जीवन डुल गया'।

इस उदाहरण में 'घी' के लिये 'जीवन' का प्रयोग किया गया है। 'जीवन-शक्ति' रूप मुख्यार्थ और 'जीवन-शक्ति का कारण' रूप लक्ष्यार्थ मे पूर्ववत् 'कार्य-कारण-भाव' सम्बन्ध होने से शुद्धा है।

'घी' रूप विषय का सर्वथा लोप कर देने से 'साध्यवसाना' हुई तथा 'अन्य कारणों की अपेक्षा निश्चित सामर्थ्य' रूप प्रयोजन के होने से 'प्रयोजनवती' भी हुई।

अजहत्स्वार्था

जहाँ लाक्षणिक पद लक्ष्यार्थ की प्रतीति के साथ स्वार्थ अर्थात् मुख्य अर्थ का भी ग्रहण किये होता है, उसे छोड़ नहीं देता, वहाँ अजहत्स्वार्था लक्षणा होती है।

यहाँ शब्द स्वार्थ अर्थात् वाच्य अर्थ का परित्याग नहीं करते अतः इसे अजहत्स्वार्था कहते हैं।

उदाहरण—'आम तो आम ही है'।

यहाँ दूसरा 'आम' पद लाक्षणिक है। उसका मुख्य अर्थ है 'आम फल' और लक्ष्यार्थ है 'सरसतादि-गुणवाला आम' इस लक्ष्यार्थ में स्वार्थ 'सामान्य आम' रूप का परित्याग नहीं हुआ। अतः यहाँ 'अजहत्स्वार्था' लक्षणा है।

'स्वार्थ' का उपादान-ग्रहण होने से इसे 'उपादान-लक्षणा' भी कहते हैं।

'सरसता आदि गुणों का अतिशय' बोध कराना यहाँ प्रयोजन है—अतः प्रयोजनवती है।

जहत्स्वार्था

जहाँ लाक्षणिक पद लक्ष्यार्थ की प्रतीति करावें, पर मुख्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर दें वहाँ 'जहत्स्वार्था' होती है।

स्वार्थ का परित्याग होने से इसे 'जहत्स्वार्था' कहते हैं। यहाँ पद स्वार्थ-मुख्य अर्थ छोड़ देते हैं।

इसका दूसरा नाम 'लक्षण-लक्षणा' भी है। 'लक्षण' होने से 'लक्षण-लक्षणा' कहा जाता है। 'लक्षण' का अर्थ भी 'स्वार्थ का परित्याग' ही है।

उदाहरण—'गङ्गा पर आश्रम है'।

यहाँ 'गङ्गा' पद लाक्षणिक है। इसका वाच्य अर्थ—'जल का प्रवाह' और लक्ष्यार्थ 'तट' है। मुख्यार्थ 'जल-प्रवाह' का सर्वथा परित्याग किया जाता है, उसका बोध नहीं होता, आगे अन्वय नहीं होता।

'शीतलता और पवित्रता के अतिशय का बोध' रूप प्रयोजन होने से यह प्रयोजनवती लक्षणा है।

विपरीत लक्षणा

किसी दुबले पतले आदमी को देखकर यदि कहा जाय 'तुम बड़े मोटे ताजे हो' तो यहाँ भी लक्षणा होगी। क्योंकि यहाँ

'मोटे ताजे' रूप लाक्षणिक पद का मुख्यार्थ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जिसके सम्बन्ध में यह कहा जा रहा है—वह तो दुबला पतला है—अतः मुख्यार्थ बाध हुआ। तब इसका लक्षणा से अन्य अर्थ—'दुबला पतला' हुआ। इस लक्ष्यार्थ और मुख्यार्थ 'मोटा ताजा' का विपरीतता-रूप सम्बन्ध है। 'विपरीतता' रूप सम्बन्ध के कारण ही इसे 'विपरीत-लक्षणा' कहते हैं।

इसमें स्वार्थ का परित्याग होता है, इसलिये यह 'जहत्स्वार्था' लक्षणा ही है।

लक्षणा का समन्वय करते हुये मुख्यार्थ, लक्ष्यार्थ और सम्बन्ध का उल्लेख करना चाहिये। विशेष भेद रूढा आदि बताने के लिये उस भेद की विशेषता का भी वर्णन करना चाहिये।

नीचे अभ्यास के लिये कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

१. देवदत्त अपने कार्य में कुशल है—रूढा।

२. इस युद्ध में कई देश लड़ रहे हैं—रूढा।

३. यह लड़का बृहस्पति है—प्रयोजनवती गौणी सारोपा।

४. अब बृहस्पति बोलने लगा—प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना।

यह उदाहरण तब होगा जब किसी विद्वान् लडके के प्रसङ्ग में कहा गया हो।

५. कंजूस के धन ही प्राण हैं—प्रयोजनवती शुद्धा सारोपा।

६. (धन के नष्ट होने पर कंजूस का यह कहना) मेरे प्राण निकल गये—प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना।

७. वही मनुष्य मनुष्य है, जो दूसरों पर उपकार —प्रयोजनवती शुद्धा अजहत्स्वार्था।

८. मुसकाते रहते हैं मन में नभ के तारागण—[illegible]जनवती शुद्धा जहत्स्वार्था।

इसी प्रकार—(बहुत दिनों के बाद किसी मित्र के दर्शन होने पर कहना) 'आज ईद का चाँद कहाँ से निकल पड़ा ?' (गाली देते हुए) 'ओ कुत्ते, बक-बक न कर। शिवाजी शेर हैं।' 'सूर सूर तुलसी ससी।' मुख चन्द्र है। 'गुणहु लखन कर हम पर रोषू' (राम० च० मा०)। 'भाग्य आयँगे फिर भी भागे' (यशोधरा)। आदि लक्षणा के उदाहरण हैं।

प्रायः हिन्दी के सभी मुहावरे लाक्षणिक प्रयोग ही हैं। जैसे—'आप क्या इस काम को सरल समझ रहे हैं, इसमें आपको नाकों चने चबाने पड़ेंगे।' यहाँ 'नाकों चने चबाना' यह मुहावरा है। अत' लाक्षणिक पद है। इसका मुख्य अर्थ-है 'नाक से चने चबाना' पर प्रकृत मे 'नाक से चने चबाने' की कोई बात नहीं, अतएव मुख्य अर्थ बाधित है। तब अन्य अर्थ 'कष्ट उठाना' लक्षणा से प्रतीत होता है। मुख्य अर्थ और लक्ष्य अर्थ का 'हेतुहेतुमद्भाव' सम्बन्ध है। 'कष्ट उठाने पड़ेंगे' यह वाचक शब्द प्रयोग न कर 'नाकों चने चबाना' कहने का 'कष्ट की अधिकता' बताना प्रयोजन है।

इसी प्रकार अन्य मुहावरों के विषय में समझना चाहिए।

'आशा का जागना' 'आशा का सोना' 'पीड़ा का उठना' 'कलियों का मुसकराना' आदि लाक्षणिक प्रयोग हैं। आजकल कवि लोग बहुधा लाक्षणिक प्रयोग करते हैं।

व्यञ्जना

मुख्य और लक्ष्य अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति शब्द के जिस व्यापार से होती है उसे 'व्यञ्जना' कहते हैं।

व्यापार, वृत्ति और शक्ति पर्याय हैं यह पहले कहा जा चुका है। इसलिये 'व्यञ्जना' व्यापार कहिये, चाहे 'व्यञ्जना वृत्ति' अथवा 'व्यञ्जना शक्ति'।

'मोटे ताजे' रूप लाक्षणिक पद का मुख्यार्थ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जिसके-सम्बन्ध में यह कहा जा रहा है—वह तो दुबला पतला है—अतः मुख्यार्थ बाध हुआ। तब इसका लक्षणा से अन्य अर्थ—'दुबला पतला' हुआ। इस लक्ष्यार्थ और मुख्यार्थ 'मोटा ताज़ा' का विपरीतता-रूप सम्बन्ध है। 'विपरीतता' रूप सम्बन्ध के कारण ही इसे 'विपरीत-लक्षणा' कहते हैं।

इसमें स्वार्थ का परित्याग होता है, इसलिये यह 'जहत्स्वार्था' लक्षणा ही है।

लक्षणा का समन्वय करते हुये मुख्यार्थ, लक्ष्यार्थ और सम्बन्ध का उल्लेख करना चाहिये। विशेष भेद रूढा आदि बताने के लिये उस भेद की विशेषता का भी वर्णन करना चाहिये।

नीचे अभ्यास के लिये कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

१. देवदत्त अपने कार्य में कुशल है—रूढा।

२. इस युद्ध में कई देश लड़ रहे हैं—रूढा।

३. यह लड़का बृहस्पति है—प्रयोजनवती गौणी सारोपा।

४. अब बृहस्पति बोलने लगा—प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना।

यह उदाहरण तब होगा जब किसी विद्वान् लडके के प्रसङ्ग में कहा गया हो।

५. कंजूस के धन ही प्राण हैं—प्रयोजनवती शुद्धा सारोपा।

६. (धन के नष्ट होने पर कंजूस का यह कहना) मेरे प्राण निकल गये—प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना।

७. वही मनुष्य मनुष्य है, जो दूसरों पर उपकार [illegible] प्रयोजनवती शुद्धा अजहत्स्वार्था।

८. मुसकाते रहते हैं मन में नभ के तारागण—[illegible] जनवती शुद्धा जहत्स्वार्था।

• इसी प्रकार—(बहुत दिनों के बाद किसी मित्र के दर्शन होने पर कहना) 'आज ईद का चाँद कहाँ से निकल पड़ा ?' (गाली देते हुए) 'ओ कुत्ते, बक-बक न कर। शिवाजी शेर हैं।' सूर सूर तुलसी ससी।' मुख चन्द्र है। 'गुणहु लखन कर हम पर रोषू' (राम० च० मा०)। 'भाग्य आयेंगे फिर भी भागे' (यशोधरा)। आदि लक्षणा के उदाहरण हैं।

प्रायः हिन्दी के सभी मुहावरे लाक्षणिक प्रयोग ही हैं। जैसे—'आप क्या इस काम को सरल समझ रहे हैं, इसमें आपको नाकों चने चबाने पड़ेंगे।' यहाँ 'नाकों चने चबाना' यह मुहावरा है। अतः लाक्षणिक पद है। इसका मुख्य अर्थ-है 'नाक से चने चबाना' पर प्रकृत में 'नाक से चने चबाने' की कोई बात नहीं, अतएव मुख्य अर्थ बाधित है। तब अन्य अर्थ 'कष्ट उठाना' लक्षणा से प्रतीत होता है। मुख्य अर्थ और लक्ष्य अर्थ का 'हेतुहेतुमद्भाव' सम्बन्ध है। 'कष्ट उठाने पड़ेंगे' यह वाचक शब्द प्रयोग न कर 'नाकों चने चबाना' कहने का 'कष्ट की अधिकता' बतान प्रयोजन है।

इसी प्रकार अन्य मुहावरों के विषय मे समझना चाहिए।

'आशा का जागना' 'आशा का सोना' 'पीड़ा का उठना' 'कलियों का मुसकराना' आदि लाक्षणिक प्रयोग हैं। आजकल कवि लोग बहुधा लाक्षणिक प्रयोग करते हैं।

व्यञ्जना

मुख्य और लक्ष्य अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति शब्द के जिस व्यापार से होती है उसे 'व्यञ्जना' कहते हैं।

व्यापार, वृत्ति और शक्ति पर्याय हैं यह पहले कहा जा चुका है। इसलिये 'व्यञ्जना' व्यापार कहिये, चाहे 'व्यञ्जना वृत्ति' अथवा 'व्यञ्जना शक्ति'।

व्यञ्जना से प्रतीत होने वाले अर्थ को व्यङ्ग्य अर्थ कहते हैं और उस अर्थ का वोध कराने वाले शब्द को व्यञ्जक।

व्यञ्जना की आवश्यकता

अभिधा केवल सङ्केतित अर्थ का वोध कराती है और लक्षणा के 'मुख्यार्थ का वाध' आदि हेतु हैं। जव इन शक्तियों से अभीष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती तो 'व्यञ्जना' नाम की तीसरी शक्ति माननी पडती है, उसी से उस अभीष्ट अर्थ की प्रतीति होती है। उदाहरण के द्वारा इस वात को समझ लेना चाहिये। विलकुल सन्नाटा वताने के लिये किसी ने कहा 'यहाँ तो पत्ता तक नहीं हिल रहा है।' यहाँ वक्ता का अभिप्रेत अर्थ है जिसे वह प्रकट करना चाहता है—'अत्यन्त सन्नाटा'। इस अर्थ का वोध इस वाक्य से हो जाता है। अतः यह तो निश्चित है कि इन्हीं 'शब्दों' का यह अर्थ है। पर किस शक्ति से इस अर्थ का वोध होता है इसका विचार करना आवश्यक है। अभिधा शक्ति सङ्केतित अर्थ का वोध कराती है। 'अत्यन्त सन्नाटा' इस अर्थ मे वाक्य मे प्रयुक्त किसी शब्द की शक्ति नहीं। अतः अभिधा तो इस अर्थ का वोध नहीं करा सकती। यहाँ 'पत्तों का न हिलना' रूप मुख्य अर्थ मे कोई वाधा भी नहीं, ठीक प्रतीति हो जाती है। ऐसी दशा मे लक्षणा भी कुछ नहीं कर सकती। अतः वाक्य और लक्ष्य से भिन्न प्रतीत होने वाले इस अर्थ की प्रतीति कराने वाली अभिधा और लक्षणा से भिन्न नवीन शक्ति माननी पड़ती है। वही शक्ति तीसरी व्यञ्जना वृत्ति है।

उसी प्रकार—

'सीता-हरन तात ! जनि कहेउ पिता सन जाइ।
जो मैं 'राम', तो कुल-सहित कहिहि दसानन आइ।'

—रामचरितमानस

यह उस समय का वर्णन है जब सीताहरणकारी रावण के द्वारा आहत होकर गृध्रराज जटायु मरणासन्न अवस्था में पड़ा है। सीता को ढूँढते हुए राम जब उसके पास पहुँचते हैं और उसको उस दशा में देखकर रावण पर क्रुद्ध होते हुए उससे कहते हैं। इसका वाच्यार्थ है—'प्रिय बन्धु जटायु ! तुम अब मरकर स्वर्ग जाओगे, पर वहाँ जाकर (पहले से पहुँचे हुए) पिता जी से तुम सीता-हरण का समाचार न कहना। यदि मैं राम हूँ तो रावण कुल-सहित स्वर्ग में आकर इस समाचार को स्वयं कहेगा।' इस वाच्य अर्थ के अनन्तर यहाँ यह अर्थ भी प्रतीत होता है कि—'मैं वह राम हूँ जिसने मारीच, खर, दूषण आदि राक्षसों को मारा है, अब मै रावण को भी कुल-सहित बहुत शीघ्र मार डालूँगा।' इस अर्थ की प्रतीति न तो अभिधा शक्ति से हो सकती है, क्योंकि वाक्यगत शब्दों का इस अर्थ मे सङ्केत नहीं। मुख्यार्थ का बाध न होने से लक्षणा भी यहाँ प्रवृत्त नहीं हो सकती। अतः वाच्य और लक्ष्य से विलक्षण इस अर्थ के बोध के लिये अभिधा और लक्षणा से भिन्न तीसरी शक्ति माननी पड़ती है। उसको ही व्यञ्जना शक्ति कहते हैं।

काव्य मे अर्थ को व्यञ्जना शक्ति से ही अधिकतर प्रकट किया जाता है। अभिधा वृत्ति से सीधे-सादे शब्दों से अर्थ प्रकट करना सहृदय-समाज पसन्द नहीं करता। हृदय के भावों को तो वाच्य करना दोष समझा जाता है। वाच्य होने पर वह स्पष्ट प्रकट भी नहीं होते, व्यङ्ग्य होने से वह चमत्कृत भी होते हैं। 'लज्जा' भाव को यदि अभिधा से यों कहकर प्रकट किया जाय कि—'वह लजा गया' तो आनन्द नहीं आता। पर यदि व्यञ्जना से 'उसने सिर नीचा कर लिया' ऐसा कहकर प्रकट किया जाय तो जहाँ 'लज्जा' भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति हो जायगी, वहाँ अपूर्व आनन्द भी मिलेगा। इसलिये जो अर्थ वाच्य भी हो सकते हैं, उन्हें भी व्यञ्जना

के द्वारा प्रकट करने मे विशेष चमत्कार पैदा होता है—यह सिद्ध हुआ। अतः चमत्कार-प्राण काव्य में इस व्यञ्जना वृत्ति का अत्यधिक महत्त्व और आदर होता है।

व्यञ्जना के भेद

व्यञ्जना के दो भेद हैं—१ शाब्दी, और २ आर्थी।

४ शाब्दी व्यञ्जना

जहाँ व्यङ्ग्यार्थ किसी विशेष शब्द के प्रयोग पर अवलम्बित हो अर्थात् उस व्यञ्जक शब्द के स्थान में उसका समानार्थक शब्द रख देने से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति न हो—वहाँ शाब्दी व्यञ्जना होती है।

यह शाब्दी व्यञ्जना नानार्थक शब्दों के प्रयोग-स्थल में ही होती है।

नानार्थक शब्दों के प्रयोग-स्थल मे अर्थ-बोध की तीन दशाएँ होती हैं—१. प्रकरण में अभिप्रेत होने से अनेक अर्थों का बोध होता है। २. अभिधा के प्रसङ्ग में बताये हुए एकार्थ-नियामक संयोग आदि के द्वारा अभिधा का एक अर्थ में नियन्त्रण होने से एक ही अर्थ का बोध होता है, अन्य अर्थ बिलकुल प्रतीत ही नहीं होते। ३. संयोग आदि के द्वारा एक अर्थ मे अभिधा के नियत हो जाने पर भी शब्द-शक्ति के स्वभाव से अन्य अर्थ का भी बोध होता है।

इनमें पहली दशा में अनेक अर्थों की प्रतीति कोई बाधा न होने से अभिधा के ही द्वारा हो जाती है, अतः वे अनेक अर्थ वाच्य होते हैं। ऐसे स्थल में आगे अलङ्कार-प्रकरण में बताया जाने वाला श्लेष अलङ्कार होता है—

उदाहरण— 'रहिमन' पानी राखिये, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरे: मोती, मानस, चून।

यहाँ 'पानी' शब्द अनेकार्थक है। मोती, मनुष्य और चूना-ये तीनों प्राकरणिक हैं। अतः यहाँ 'पानी' शब्द के तीन अर्थ लिये जायँगे अर्थात् अभिधा से प्रतीत होंगे। मोती पक्ष में—आभा, आव, चमक। मनुष्य पक्ष में—इज्जत, आवरू, प्रतिष्ठा। चूने के पक्ष मे—जल। तीनों के प्राकरणिक होने से यहाँ प्रकरणादि के द्वारा अभिधा का एक अर्थ में नियन्त्रण नहीं हो पाता। अतः तीनों अर्थ अभिधा के द्वारा वोधित होने से वाच्य हैं और अतएव श्लेष अलङ्कार है।

दूसरी दशा में प्रकरणादि के अनुकूल एक ही अर्थ का अभिधा से वोध होता है। उदाहरण—'सुधावृष्टि भइ दुहुँ दल ऊपर' अनेकार्थक होते हुए भी यहाँ प्रकरणानुकूल सेना-रूप एक अर्थ मे ही 'दल' शब्द की अभिधा शक्ति नियत हो जाती है, अन्य अर्थों की अतएव यहाँ प्रतीति होती ही नहीं। यहाँ भी शुद्ध रूप से अभिधा ही कार्य करती है।

तीसरी दशा में जव प्रकरणादि के द्वारा अभिधा का एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है, तव भी जिस अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह व्यञ्जना शक्ति के द्वारा। यही शाब्दी व्यञ्जना का स्थल है।

उदाहरण—

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

—विहारी

यहाँ 'वृषभानुजा' और 'हलधर' पद अनेकार्थक हैं। वृषभानुजा के दो अर्थ होते हैं—१. वृषभानु-जा, वृषभानु की लड़की २. वृषभ-अनुजा, वैल की छोटी वहिन। हलधर—१. वलराम, २. वैल। सखी की उक्ति सखी से है, श्रीकृष्ण और राधा के स्नेह की गम्भीरता के औचित्य का सहेतुक वर्णन किया गया है। इस

प्रकरण में अनेकार्थक 'वृपभानुजा' और 'हलधर' का पहला अर्थ ही अपेक्षित है, अतः प्रकरण के द्वारा अभिधा का उस अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है, उसी अर्थ को बताकर अभिधा शान्त हो जाती है।

पर फिर भी इन शब्दों में ऐसी स्वाभाविक शक्ति है जिससे सहृदय श्रोता का ध्यान इन शब्दों के दूसरे अर्थ 'बैल की छोटी बहिन' और 'बैल' की ओर स्वयं खिंच जाता है। इस दूसरे अर्थ में गूढ़ परिहास ध्वनित होता है। यह दूसरा अर्थ व्यञ्जना शक्ति के द्वारा ही प्रतीत होता है। क्योंकि अभिधा का तो प्राकरणिक अर्थ बताने मे नियन्त्रण होने से इस अर्थ का बोध कराने की शक्ति नहीं। मुख्यार्थ बाध आदि के न होने से यह लक्षणा का भी स्थल नहीं। अतः इस अन्य अर्थ के बोध के लिये व्यञ्जना शक्ति की शरण लेनी पड़ती है।

यह शाब्दी इसलिये है कि 'वृपभानुजा' और 'हलधर' इन शब्दों के—जिन पर व्यङ्गयार्थ निर्भर है—स्थान पर समानार्थक शब्द रख देने पर फिर व्यङ्गयार्थ नहीं रह जाता।

आर्थी व्यञ्जना

जहाँ व्यङ्गयार्थ अर्थ पर निर्भर हो, किसी विशेप शब्द पर नहीं अर्थात् समानार्थक शब्द के रख देने पर भी व्यङ्गयार्थ की प्रतीति निर्बाध हो जाय, वहाँ आर्थी व्यञ्जना होती है।

व्यञ्जना के जो सामान्य उदाहरण पहले दिखाये गये हैं, उनमें आर्थी व्यञ्जना ही है। वहाँ व्यङ्गयार्थ किसी विशेप शब्द पर निर्भर नहीं। इसी प्रकार पहले अध्याय में उत्तमोत्तम और उत्तम काव्य के उदाहरण रूप में आये हुए पद्य आर्थी व्यञ्जना के उदाहरण हैं। उनमें भी व्यङ्गय अर्थ किसी विशेप शब्द पर अवलम्बित नहीं।

आर्थी व्यञ्जना के भेद

आर्थी व्यञ्जना के दो भेद हैं—१ लक्षणामूला और २ अभिधामूला।

लक्षणामूला

जहाँ लक्ष्यार्थ की प्रतीति होने के बाद व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है, वहाँ लक्षणामूला व्यञ्जना होती है।

प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेदों मे प्रयोजन का बोध व्यञ्जना से ही होता है, क्योंकि लक्षणा तो लक्ष्यार्थ का बोध कराकर विरत हो जाती है। प्रयोजन का बोध कराने का उसमें सामर्थ्य नहीं होता।

परन्तु सारोपा, साध्यवसाना के गौणी और शुद्धा के द्वारा बने चार भेद अलंकार बन जाते हैं, अतः वे व्यञ्जना के भेद रूप में नहीं गिने जाते। शेष रहते हैं अजहत्स्वार्था और जहत्स्वार्था—ये दो भेद। यही व्यञ्जना के मूल हैं, क्योंकि प्रयोजन रूप व्यङ्ग्य अर्थ की सिद्धि के लिये 'लक्षणा' का यहाँ सहारा लिया जाता है।

अजहत्स्वार्थ-मूला को अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य' भी कहते हैं क्योंकि यहाँ वाच्य अर्थ अर्थान्तर (अन्य अर्थ) रूप लक्ष्य अर्थ मे संक्रमित (परिवर्तित) हो जाता है, अपने आप भी स्वयं रहता है, पर परिवर्तित रूप मे

जहत्स्वार्थ-मूला को 'अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य' भी कहते हैं, क्योंकि यहाँ वाच्य अर्थ सर्वथा तिरस्कृत हो जाता है—लुप्त हो जाता है।

अजहत्स्वार्थ-मूला व्यञ्जना लक्षणा के प्रकरण में दिये गये 'आम आम ही है' इस उदाहरण में है। यहाँ दूसरे आम शब्द के प्रयोग का प्रयोजन है-'आम की सरसता मधुरता आदि गुणों की अधिकता की प्रतीति'। वह व्यञ्जना से ही होती है और यहाँ

लक्षणा के प्रकरण मे बताये प्रकार से अजहत्स्वार्था लक्षणा का आश्रय इसी प्रयोजन के बोध के लिये किया गया है, अतः यह अजहत्स्वार्थ-लक्षणामूला व्यञ्जना है।

इसी प्रकार व्यञ्जना के सामान्य उदाहरण के रूप में दिया गया—'जो मैं राम तो कुल सहित कहिहि दसानन आय' पद्य में यही अजहत्स्वार्थ-लक्षणा-मूला व्यञ्जना है। क्योंकि यहाँ वक्ता स्वयं राम अपने लिये 'मैं राम' कह रहा है, वक्ता का अपना नाम कहना निरर्थक सा होता है जब श्रोता सामने उपस्थित हो। तब राम शब्द के मुख्यार्थ का बाध हो जाता है और लक्षणा से उसका 'खर-दूषण आदि का मारने वाला वीर राम' यह अर्थ फिर निकलता है। 'राम' रूप मुख्य अर्थ का यहाँ परित्याग नहीं हुआ, केवल विशेष अर्थ में वह परिणत हो गया। अतः अजहत्स्वार्था लक्षणा हुई। यहाँ प्रयोजन है राम की 'वीरता के आधिक्य का बोध कराना'। यह व्यञ्जना से होता है। अत. यहाँ भी अजहत्स्वार्थ-लक्षणा-मूला व्यञ्जना हुई।

जहत्स्वार्थ-लक्षणा-मूला का उदाहरण—'गङ्गा पर आश्रम है' यह है, इसमें जहत्स्वार्था लक्षणा है यह तो पहले बताया जा चुका है। 'शीतलता और पवित्रता का आधिक्य रूप प्रयोजन का बोध' व्यञ्जना वृत्ति से होता है। अतः यहाँ जहत्स्वार्थ-लक्षणा-मूला व्यञ्जना है।

उदाहरण—

'कह अंगद सलज्ज जग माँही।
रावण तोहि समान कोऊ नाँही॥'

—रामचरितमानस

यह अंगद-रावण-संवाद में है। सीता का हरण करने वाले रावण को 'लज्जावान्' कहना असङ्गत सा है, क्योंकि अंगद—जो

वार वार समझाने पर भी धृष्ट बने हुए रावण पर खीझ गया है— ऐसा उसे नहीं कह सकता। अतः मुख्यार्थ के बाध होने से यहाँ वाच्यार्थ से बिलकुल विपरीत वैपरीत्य-सम्बन्ध से 'निर्लज्ज' रूप अर्थ लक्षणा से प्रतीत हुआ। वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग होने से जहत्स्वार्था हुई। व्यङ्ग्यार्थ है यहाँ 'निर्लज्जता की पराकाष्ठा'। यहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति लक्ष्यार्थ के अनन्तर होने से लक्षणामूला व्यञ्जना हुई और जहत्स्वार्था लक्षणा के अनन्तर प्रवृत्ति के कारण 'जहत्स्वार्थ-लक्षणा-मूला'।

अभिधामूला व्यञ्जना

✓जहाँ वाच्यार्थ के अनन्तर ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ अभिधामूला व्यञ्जना होती है।

उदाहरण—

> जो 'सहचरी' का पद मुझे तुमने दया कर था दिया,
> वह था तुम्हारा इसलिए प्राणेश तुमने ले लिया।
> पर जो तुम्हारी 'अनुचरी' का पुण्य पद मुझको मिला,
> है दूर करना तो कठिन, सकता नहीं कोई हिला॥
>
> —जयद्रथवध

अभिमन्यु की मृत्यु पर उत्तरा का विलाप है।

यहाँ व्यङ्ग्यार्थ है—'मैं तुम्हारे साथ सती हो जाऊँगी, मुझे कोई नहीं रोक सकता'।

यह व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की प्रतीति के समनन्तर ही मालूम हो जाता है, अतः अभिधामूला व्यञ्जना है।

उदाहरण—

> रे कपि कौन तू ? अक्ष को घातक, दूत बली रघुनन्दन जी को।
> को रघुनन्दन रे ? त्रिसिरा-खर-दूषण-दूषण, भूषण भू को।

सागर कैसे तरयो ? जस गोपद, काज कहा ? सिय-चोरहिं देखो।
कैसे बँधायो ? जु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो॥

—रामचन्द्रिका

रावण और हनुमान् का व्यङ्गय-पूर्ण संवाद है। यह उस प्रसङ्ग का वर्णन है जब लंका में अशोक-वाटिका को हनुमान् उजाड़ चुका है, अक्षय को उसने मार डाला है और मेघनाद उसे कैद कर रावण के सामने लाया है। प्रथम तीन चरणों में दिये हुए हनुमान् जी के उत्तरों से व्यङ्गयार्थ निकलता है कि—'राम का बल अतुलनीय है, जिसका दूत साधारण बन्दर होते हुए भी तुम्हारे पुत्र अक्षय को सैन्य-सहित मार सकता है और जो समुद्र को अनायास तर सकता है, उसका बल कितना अधिक होगा और जो स्वयं तुम्हारे भेजे हुए त्रिशिरा आदि बड़े वीरों को मार कर अपना बल प्रकट कर चुके हैं, जिन्हे सारा पृथ्वी-मण्डल जानता है—उनके बल का ज्ञान तुम्हे न हुआ, अब तुम्हारा नाश अवश्यम्भावी है।' अन्तिम चरण के रावण के प्रश्न का व्यङ्गयार्थ है कि—'तुम से मेरे दूत अधिक बलवान् हैं, जो तुम्हे पकड लाये हैं ? मेरे दूत इतने बलशाली हैं, इसी से तुम मेरे बल का अनुमान कर लो'। हनुमान् के उत्तर का व्यङ्गयार्थ है—'जब मैंने अनजाने सोती हुई तुम्हारी अर्थात् पर-स्त्रियों को आँखों से छुआ ही, अच्छी तरह देखना तो दूर रहा, जरा भी नहीं देखा, एकदम नज़र हटा ली, उस पर-स्त्री-दर्शन से मुझे जो पाप लगा, अत्यन्त बलशाली होते हुए भी मैं उससे कैद हो गया। इतने ज़रा पाप से, वह भी अनजाने हुए पाप से मैं जब यह दण्ड भुगत रहा हूँ, तब तुम्हे पर-स्त्री-हरण रूप महान् पाप का क्या दण्ड भोगना पड़ेगा ? जरा सोच लो, समझ लो अब तुम्हारा नाश शीघ्र और अवश्य होने वाला है।'

इसके अतिरिक्त 'रे' पद से 'तिरस्कार' भी व्यङ्गय है। इसी

प्रकार अन्य पदों से भी भिन्न भिन्न 'व्यङ्ग्यार्थ' प्रतीत होते हैं। विस्तार के भय से और स्वयं व्यङ्ग्यार्थ निकालने की शक्ति की परीक्षा के विचार से छोड़ दिया है।

ध्यान रहे, व्यङ्ग्यार्थ एक ही वाक्य से अनेक भी प्रतीत होते हैं। वक्ता और श्रोता के भेद से ऐसा होता है। प्रत्येक वक्ता का अभिप्राय अपना अपना भिन्न होता है, श्रोता भी अपने अनुकूल अभिप्राय ग्रहण कर लेता है। प्रकरण भी अपने अनुसार व्यङ्ग्यार्थ प्रकट करता है। इस बात को एक उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं—

'सूर्यास्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ एक ही रहता है, पर व्यङ्ग्यार्थ वक्ता, श्रोता और प्रकरण के भेद से भिन्न-भिन्न ही प्रतीत होता है। यदि कहने सुनने वाला कोई ब्रह्मचारी होगा तो यह व्यङ्ग्यार्थ होगा-'सन्ध्योपासना तथा हवन का समय हो गया'।

वन में गाय चराते हुए ग्वाले यदि वक्ता-श्रोता हुए तो व्यङ्ग्यार्थ होगा—'अब गायों को घर ले जाने का समय हो गया'।

खेतों में काम करते हुए किसान वक्ता-श्रोता का इस वाक्य से अभिप्राय प्रकट होगा—'काम बन्द कर घर चलना चाहिये'।

पर्वतों पर पैदल यात्रा करते हुए यात्रियों की बात-चीत में प्रयुक्त इस वाक्य का तात्पर्य होगा—'अब चलना बन्द करना चाहिये'।

शौक़ीन तबीयत के लोगों का आशय होगा 'अब घूमने चलना चाहिये अथवा सिनेमा देखने का समय हो गया'।

यदि बगीचे में पढ़ते हुए छात्र वक्ता-श्रोता हुए तो व्यङ्ग्यार्थ होगा—'प्रकाश कम हो गया, अब पढ़ना बन्द करना चाहिये'।

ग्रीष्मकाल में गर्मी से घबराये हुए लोग यदि इस वाक्य का प्रयोग करें तो व्यङ्ग्यार्थ निकलेगा—'अब गर्मी शान्त हो गई'।

इस प्रकार वक्ता और श्रोता के भेद से इस वाक्य का

व्यङ्गयार्थ प्रत्येक स्थल मे भिन्न-भिन्न होगा। अभिप्राय, आशय और तात्पर्य शब्दों का अर्थ 'व्यङ्गय' ही है।

तीनों अर्थ व्यञ्जक होते हैं

आर्थी व्यञ्जना मे अर्थ के द्वारा व्यङ्गयार्थ निकलता है यह कहा गया है। वह अर्थ तीनों प्रकार का लिया जाता है अर्थात् वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्गय तीनों प्रकार के अर्थ व्यञ्जक होते हैं—तीनों से व्यङ्गयार्थ निकलता है। लक्षणा-मूला और अभिधा-मूला व्यञ्जना मे लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ के द्वारा व्यङ्गयार्थ की प्रतीति दिखाई गई है।

अब व्यङ्गयार्थ से व्यङ्गयार्थ का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—हनुमान् रावण के संवाद वाले पद्य में 'अक्ष को घातक, दूत बली रघुनन्दन जी को' इस वाक्य से पहले यह व्यङ्गयार्थ निकलता है कि—'मैं जो बड़ा बलशाली हूँ, वह श्रीरामचन्द्र जी की कृपा से—जिनका मैं दूत हूँ'। इस व्यङ्गयार्थ से दूसरा यह व्यङ्गयार्थ निकलता है कि 'मैं उनका दूत जब इतना कुछ कर गया, फिर वे रामचन्द्र जी क्या नहीं कर सकेंगे? तुम्हारा विनाश अब शीघ्र होने वाला है, चुपचाप उनकी शरण में चले जाओ'।

यह व्यञ्जना शक्ति न तो अभिधा के समान केवल शब्द में रहती है और न लक्षणा के समान केवल वाच्य अर्थ के ऊपर ही निर्भर रहती है। यह तो शब्द में भी रहती है और अर्थ में भी, अर्थों में भी न केवल वाच्य अर्थ ही पर अवलम्बित रहती है, अपितु वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्गय तीनों अर्थों पर। अतः यह अन्य वृत्तियों की अपेक्षा विलक्षण है।

शाब्दी और आर्थी नाम का कारण

यह पहले कहा जा चुका है कि शब्द बिना अर्थ नहीं रह

सकता और न अर्थ शब्द के विना। काव्य मे तो शब्द और अर्थ की परस्पराश्रितता निश्चित है और विशेषकर व्यञ्जना के स्थल में। शाब्दी व्यञ्जना के स्थल में भी जब तक प्रकरण आदि के द्वारा नियन्त्रण होने पर भी वाच्यार्थ की प्रतीति नहीं हो जाती, तब तक व्यङ्गयार्थ की प्रतीति हो नहीं सकती। विना वाच्य अर्थ के व्यङ्गय अर्थ की प्रतीति असम्भव है। इसी प्रकार आर्थी व्यञ्जना के स्थल मे विना शब्द के वाच्यार्थ ही नहीं प्रतीत हो सकता, तब वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के अनन्तर प्रतीत होने वाले व्यङ्गयार्थ की कैसे प्रतीति हो सकती है। ऐसी दशा मे जब दोनों स्थलों पर दोनों की स्थिति है, फिर शाब्दी और आर्थी यह भिन्न नाम क्यों ? वात तो यह उचित है। परन्तु शब्द और अर्थ दोनो के दोनों स्थलों पर रहते हुए भी जहाँ जिसकी प्रधानता रहती है, वहाँ उसके ही नाम से कहा जायगा। शाब्दी व्यञ्जना के स्थल में व्यङ्गय की प्रतीति कराने मे 'शब्द' प्रधान रहता है, अतः उसे 'शाब्दी' कहा जाता है और आर्थी व्यञ्जना के स्थल में व्यङ्गयार्थ के वोध कराने में 'अर्थ' की प्रधान शक्ति रहती है, अतः उसे 'आर्थी' कहा जाता है। इसलिये 'शाब्दी' और 'आर्थी' यह नाम-भेद करना समुचित है।

शब्दों की वाचकता, लाक्षणिकता और व्यञ्जकता नियत नहीं।

यहाँ यह भी ध्यान रहना चाहिये कि शब्दों की वाचकता, लाक्षणिकता और व्यञ्जकता नियत नहीं अर्थात् ऐसा नहीं कि कोई शब्द वाचक ही हो, कोई लाक्षणिक ही हो और कोई व्यञ्जक ही। ये तो शब्द की अवस्थाएँ हैं, जब शब्द से वाच्यार्थ का वोध होगा, तब वह वाचक कहा जायगा, लक्ष्यार्थ की प्रतीति के समय लाक्षणिक और व्यङ्गयार्थ के वोध के समय व्यञ्जक। तात्पर्य यह है कि एक ही शब्द अवस्था-भेद से वाचक, लाक्षणिक और

व्यञ्जक तीनों हो सकता है। उदाहरण के लिये देखिये—'गङ्गा पर आश्रम है।' यहाँ 'गङ्गा' पद वाचक भी है, लाक्षणिक भी है और व्यञ्जक भी। जब 'जल-प्रवाह' अर्थ का उससे बोध होता है, तब वाच्य अर्थ के बोध कराने के कारण उसे 'वाचक' कहा जाता है, जब 'तट' रूप लक्ष्य अर्थ की प्रतीति कराता है तब लाक्षणिक और 'शीतलता और पवित्रता का आधिक्य' रूप व्यङ्गयार्थ के बोध के समय 'व्यञ्जक'। केवल 'व्यञ्जक' शब्द कोई नहीं मिलेगा, क्योंकि अभिधा और लक्षणा के बाद व्यञ्जना कार्य करती है, अतः उसकी प्रवृत्ति के पहले लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ की प्रतीति होगी, अतएव शब्द लाक्षणिक और वाचक होगा। 'वाचक' तो वह शब्द अवश्य ही रहेगा। केवल 'लक्षक' शब्द भी नहीं होता क्योंकि बिना वाच्यार्थ के लक्ष्यार्थ की भी प्रतीति नहीं होती। हाँ, केवल वाचक शब्द मिल जायँगे और बहुत मिलेंगे। काव्य के सब शब्द वाचक तो अवश्य होते हैं; लाक्षणिक और व्यञ्जक चाहे न हों। अस्तु।

अब तक तो व्यञ्जना शक्ति के भेदों का निरूपण किया गया है। अब उसके द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थ पर भी थोड़ा सा विचार करना है। व्यङ्गय अर्थ तीन प्रकार का होता है—१ वस्तु, २ अलङ्कार, तथा ३ रस।

वस्तु—जहाँ व्यङ्गयार्थ वस्तु रूप अर्थात् साधारण होगा, अलङ्कार—जो आगे बताये जाने वाले हैं—रूप न होगा उसे वस्तु व्यङ्गय कहेंगे।

पूर्वोक्त प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरणों में प्रयोजन-रूप व्यङ्गय वस्तु-रूप है।

अलङ्कार—जहाँ प्रतीयमान व्यङ्गयार्थ 'अलङ्कार' रूप अर्थात् आगे बताये जाने वाले अलङ्कारों में से किसी एक परिभाषा के अनुसार होगा, वह अलङ्कार व्यङ्गय कहा जायगा।

अलङ्कार व्यङ्ग्य का उदाहरण—'रे कपि—' इत्यादि पूर्वोक्त । मे काव्यार्थापत्ति' अलङ्कार व्यङ्ग्य है। 'जब अनजाने मे पर-स्त्री ान हो जाने से मुझे कैद होना पडा है, तब जान-बूझकर पर-स्त्री पहरण करने से तुम्हे इसका कठोर फल भोगना पड़ेगा—इसका ा कहना'।

रस—यदि व्यङ्गयार्थ रस रूप होगा तो 'रस व्यङ्ग्य' कहा ायगा।

'रस' का निरूपण अग्रिम अध्याय में किया जायगा।

ये तीनों प्रकार के व्यङ्गयार्थ जहाँ प्रधान रूप से प्रतीत हों, ाँ उत्तमोत्तम 'काव्य' होता है यह पहले कहा जा चुका है।

इनमे 'रस' विशेप-चमत्कार-जनक है। यह सर्वथा और सदा यङ्ग्य ही रहता है। वस्तु और अलङ्कार वाच्य भी होते हैं। 'रस' भी वाच्य नहीं होता, वाच्य होने मे रस विगड़ जाता है। अतः शेप-चमत्कार-जनक होने से अब उसी का निरूपण अग्रिम ाध्याय मे किया जायगा।

तृतीय अध्याय

रस-रहस्य

रस क्या है—यह पहले बताया जा चुका है कि सुन्दर र्थ को बताने वाले वाक्य को काव्य कहते हैं और अलौकिक ानन्द देने वाले अर्थ को सुन्दर कहा जाता है। अर्थो की पस्थिति, श्रव्य काव्य पढ़ने और सुनने तथा दृश्य काव्य देखने से ोती है। यह अलौकिक आनन्द कई प्रकार का है, क्योंकि अर्थ—

१. जहाँ अर्थात् किसी वस्तु की सिद्धि का वर्णन हो वहाँ ाव्यार्थापत्ति अलङ्कार होता है।

जिसके द्वारा उसकी प्राप्ति होती है—कई प्रकार का है। काव्य पढ़ने या सुनने से तथा देखने से पाठक, श्रोता और दर्शक के हृदय में वर्तमान भावों के उद्‌बुद्ध अर्थात् जग जाने से जिस आनन्द का अनुभव होता है, उसे 'रस' कहते हैं। चित्तवृत्तियों अर्थात् मनोभावों के जागरित होने पर मिलने वाला आनन्द काव्य के द्वारा ही अन्य कारणों से मिलने वाले आनन्द की अपेक्षा उत्कृष्ट है। इसी को रस के मर्मज्ञ साहित्याचार्यों ने 'रस' की पदवी दी है। अनन्त मनोभावों में से कुछ को ही इस योग्य निश्चित किया गया है कि वे अनुकूल परिस्थिति पाकर 'रस' रूप में परिणत हो जाते हैं। ये मनोभाव सामाजिक[1] के हृदय में संस्कार रूप से वर्तमान होते हैं। लोक में बार बार अनुभव करने से भावों का हृदय में संस्कार बनता है। जिनके हृदय में इन भावों के संस्कार नहीं होते, उन्हें 'रस' का अनुभव नहीं होता। जिसके हृदय में जो भाव संस्कार रूप से वर्तमान होगा, उसे उसी भाव का रसात्मक अनुभव होगा। यही संस्कार रुचि-वैचित्र्य का कारण है। किसी को शृङ्गार की कविता से आनन्द मिलता है, किसी को वीर की और किसी को करुण की, क्योंकि उनके हृदय में उन्हीं रसों के मूल मनोभावों का संस्कार रहता है।

रस का स्वरूप—रस आनन्द-स्वरूप है। भावों के इन रसात्मक अनुभव में जो आनन्द होता है, वह विलक्षण होता है। यों तो सरस काव्य को पढ़ने, सुनने और देखने से प्रायः आनन्द का अनुभव होता ही है—वह चाहे अल्पमात्रा में ही हो। पर जब वह आनन्द एक विशेष परिस्थिति में पहुँच जाय, जब सहृदय सामाजिक को न अपने व्यक्तित्व का ज्ञान रहे और न उस दशा में किसी अन्य विषय का भान हो अर्थात् मनोभाव के आस्वाद में इतना

[1] काव्य के पाठक, श्रोता और दर्शक को सामाजिक कहते हैं।

तल्लीन हो जाय कि वाह्य विषयों का थोड़ा भी ज्ञान न रहे, तब उस 'आनन्द' को रस कहा जायगा। योगियों को परब्रह्म में लीन होने की अवस्था में जो आनन्द प्राप्त होता है, जिसे ब्रह्मानन्द कहा जाता है, उसी के समान यह आनन्द होता है, अन्तर केवल इतना ही है कि ब्रह्मानन्द नित्य है और यह कारण-सामग्री की उपस्थिति तक ही रहता है, कारण-सामग्री के हट जाने पर यह भी नहीं रहता।

इतनी विवेचना के बाद यहाँ पर 'रस' का लक्षण कह देना आवश्यक हो जाता है। अतएव रस के विषय के अन्य विचारों के पूर्व उसका लक्षण वर्णन किया जाता है।

रस का लक्षण

विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त रति आदि स्थायी भाव 'रस' होता है।

इस लक्षण में बताये गये विभाव आदि 'रस' की कारण-सामग्री हैं। स्थायी भाव इनमें प्रधान है। वही रस की स्थिति तक पहुँचता है। विभाव आदि मिलकर इसे अभिव्यक्त करते हैं। यह वासना (संस्कार) रूप से सामाजिकों के हृदय में वर्तमान रहता है। विभाव आदि काव्य से उपस्थित होते हैं। सहृदयता के साथ एक विशेष भावना सामाजिक के हृदय में होती है, जिसके द्वारा इनकी सामान्य रूप से उपस्थिति होती है, दुष्यन्त आदि विशेष रूप से नहीं। विभाव आदि में एक अलौकिक व्यापार होता है जिससे उनकी उपस्थिति के समय आत्मा के आनन्द-अंश के ऊपर का आवरण हट जाता है और तब आनन्द का भी भान होने लगता है और प्रेम आदि स्थायी भावों का भी। जैसे दीपक के ऊपर से आवरण हटा देने से वह स्वयं भी प्रकाशित होता है और अन्य समीप-स्थित पदार्थों को भी प्रकाशित कर देता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा-

के ऊपर का आवरण विभावादि के अलौकिक व्यापार से हट जाने पर आत्मा का आनन्द-अंश भी प्रकाशित हो जाता है और उसके साथ ही रति आदि स्थायी भाव भी। इस प्रकार रस में आनन्द का भान होता है, रति आदि के भेद से उसके भी अनेक भेद हो जाते हैं। पर जैसे पहले भी कहा जा चुका है—वह आनन्द रूप ही हैं।

रस की कारण-सामग्री शब्द के द्वारा ही उपस्थित होती है और अभिनय के द्वारा भी। शब्द के द्वारा श्रव्य काव्यों मे उपस्थित होती है और नाटकों—दृश्य काव्यों—मे अभिनय के द्वारा। नाटक मे काव्य के आनन्द के अतिरिक्त अभिनय का भी आनन्द मिलता है। अतएव 'रस' का प्रत्यक्ष अनुभव वहाँ स्पष्ट होता है। श्रव्य काव्य शब्दों के द्वारा विभावादिकों का चित्र हमारे सामने उपस्थित करते हैं। नाटकों के स्थल मे वे अभिनय के द्वारा प्रत्यक्ष से रहते हैं। नाटको से यहाँ तात्पर्य अभिनय की अवस्था से है। विभाव आदि कारण-सामग्री के प्रत्यक्ष रहने से वहाँ 'रस' का परिपाक उत्तम होता है, अतएव नाटकों मे इसका मुख्य स्थान है।

विभाव आदि क्या हैं ?

अब यहाँ यह विचार किया जाता है कि ये विभाव आदि क्या हैं, जिन्हे रस की सामग्री कहा गया है। लोक मे हम प्रतिदिन भावों का अनुभव करते रहते हैं, वे भाव किसी कारण से उत्पन्न होते हैं, किसी कारण से उद्दीप्त होते हैं और उसके साथ ही कुछ अन्य मनोभाव भी बीच बीच में प्रकट होकर उस भाव की तीव्र अनुभूति मे सहायता पहुँचाते रहते हैं। हृदय में भाव के जग जाने पर शरीर मे भी कुछ चेष्टाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उदाहरण के लिये किसी ने हमे हानि पहुँचाई, उसके प्रति हमारे हृदय में 'क्रोध' भाव जग पड़ा। इस पर वह हम से क्षमा माँगने के बजाय अकड़कर

बातें करने लगा। हमारा 'क्रोध' और भड़क उठा। हमारी आँखें लाल हो गईं, ओठ फड़कने लगे और हमने अपने उस अपराधी को दण्ड रूप में मारना-पीटना शुरू कर दिया। इस क्रोध को बराबर बनाये रखने मे हमारे अन्य मनोभाव भी काम करते रहेंगे—वह भाव होंगे—उग्रता, चपलता, और आवेग आदि। क्योंकि क्रोध के साथ ये चित्तवृत्तियाँ भी जग पड़ती हैं।

इस दशा मे क्या क्या बातें हैं और कौन कौन से मनोभाव काम कर रहे हैं—विश्लेषण करने से विदित होता है कि क्रोध का भाव जागरित हुआ। उसका कारण है—अपराधी व्यक्ति, जिसके विषय मे क्रोध उत्पन्न हुआ है। अपराधी का क्षमा माँगने के बजाय अकड़कर बोलना 'क्रोध' का उद्दीपन कारण हुआ। आँखों का लाल होना, ओठ फड़कना और मारना-पीटना—ये कार्य हुए क्योंकि क्रोध के कारण ही हमने यह किया। क्रोध के साथ ही हमारी उग्रता, चपलता और आवेग आदि अन्य मनोवृत्तियाँ भी प्रकट हुईं—ये सहकारी कारण हुईं।

परन्तु यदि इसी 'क्रोध' भाव का इस रूप में काव्यमय वर्णन हो अथवा अभिनय हो, तब इन्हें वहाँ कार्य, कारण और सहकारी कारण न कहकर विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव कहा जायगा और 'क्रोध' भाव को जिसे विभाव आदि प्रवृत्त करते हैं—'स्थायी' कहा जायगा।

एक और दृष्टान्त से इस बात को स्पष्ट किया जाता है—'कबूतर आराम से दाना चुग रहा है, आकाश से बाज झपटा, यह देखकर बेचारे का मुँह सूख गया, शरीर थर थर काँपने लगा, आँखों में व्याकुलता भर गई, हिल-डुल न सका।'

कबूतर की इस दशा का विश्लेषण कर लीजिये—कबूतर के हृदय में 'भय' उत्पन्न हुआ, उसका कारण 'बाज' है। बाज का

के विद्वान् साहित्य-शास्त्रियों ने उन भावों मे से मुख्य मुख्य भावों का निर्वाचन कर लिया है, जिनका अनुभव प्रायः सभी करते हैं, अथच जिनके अनुभव में अत्यन्त तीव्रता रहती है, एवं जिनमें अन्य अधिकांश भावों का अन्तर्भाव हो जाता है। उन मनोभावों मे भी जो मुख्यतर हैं, जिनका अनुभव बहुत व्यापक रूप से होता है और जिनका अनुभव अत्यन्त तीव्रतम होता है—उन्हे इस योग्य ठहराया गया है कि उनकी परिणति 'रस' में होती है। उन्हें ही 'स्थायी भाव' कहा है।

स्थायी भाव उन्हे इसलिये कहते हैं कि उनका प्रबन्ध में रस के आस्वाद की स्थिति तक अनुभव होता रहता है। प्रबन्ध से तात्पर्य न केवल सम्पूर्ण काव्य ग्रन्थ से है, अपितु पद्य भी प्रबन्ध हैं। जो भाव ऐसे नहीं उन्हे सञ्चारी कहा गया है, वे आगे बताये जायँगे। परन्तु स्थायी भावों का उनसे अन्तर यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। स्थायी और सञ्चारी दोनों मनोभाव हैं, चित्तवृत्तियाँ हैं, दोनों ही संस्कार रूप से सामाजिक के हृदय मे विद्यमान रहते हैं। अन्तर यह है कि सञ्चारी भाव बिजली के समान रस की प्रतीति के समय बीच बीच मे चमक कर विलीन हो जाते हैं। बिजली चमक कर मेघों की वर्षण-शक्ति को बीच बीच मे जगाती रहती है, उसी प्रकार सञ्चारी भाव बीच बीच में प्रकट होकर 'स्थायी' भाव की सामाजिक को रस-मग्न करने की शक्ति को जगाते रहते हैं। स्थायी भाव रस के आस्वाद पर्यन्त प्रकट होता रहता है, सञ्चारी भाव कभी कोई कभी कोई—इस प्रकार बीच बीच में प्रकट होते हैं। पद्य का प्रत्येक पद 'स्थायी' का व्यञ्जक होगा, पर सञ्चारी का कोई एक। यही स्थायी भाव का स्थायित्व है।

ये स्थायी भाव दस हैं—१. रति, २. शोक, ३. निर्वेद, ४. क्रोध, ५. उत्साह, ६ विस्मय, ७. हास, ८. भय, ९. घृणा, १०. वात्सल्य।

वेग से झपटना 'भय' को उद्दीप्त कर देता है। मुँह का सूखना, शरीर का काँपना आदि 'भय' के कार्य हुए। आँखों की व्याकुलता से व्यङ्ग्य दैन्य भाव, तथा हिल-डुल न सकने द्वारा व्यङ्ग्य जडता आदि सहकारी कारण हैं।

इस दृश्य का वर्णन यदि काव्य में हो तब 'भय' को स्थायी भाव, उसके कारण बाज को आलम्बन विभाव, वेग से झपटने को उद्दीपन विभाव, मुख सूखना आदि कार्य को अनुभाव तथा दैन्य आदि सहकारी कारणों को सञ्चारी भाव कहा जायगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि लोक मे चित्तवृत्ति के जो कारण, कार्य और सहकारी कारण हैं, उन्हे ही काव्य मे क्रम से विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव कहते हैं तथा प्रधान मनोभाव को स्थायी भाव कहते हैं।

विभाव आदि की साधारण विवेचना तो हो गई। अब इनका पृथक् पृथक् लक्षण करते हुए विशेष विवेचना की जायगी। स्थायी भाव इनमे प्रधान है। अतः सर्वप्रथम इसी की विवेचना यहाँ की जायगी।

स्थायी भाव

उन मनोभावों को स्थायी भाव कहते हैं जो अभिव्यक्त होकर रस रूप में परिणत होते हैं और रस के आस्वाद तक बार बार भासित होते रहते हैं।

मनुष्य इस संसार मे अनेक परिस्थितियों मे से गुज़रता है। उन परिस्थितियों मे उनके हृदय मे अनेक भाव उत्पन्न होते हैं। परिस्थितियों की अनेकता के कारण भाव भी अनन्त हैं। यद्यपि उनकी गणना असंभव है, उनकी संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती, तथापि मनोविज्ञान-शास्त्रियों ने यथाशक्ति उनकी संख्या का निर्धारण तथा विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। मनोविज्ञान

इन दस स्थायी भावों की अभिव्यक्ति से दस रस बनते हैं। इनके लक्षण और किस स्थायी भाव से कौन रस बनता है—यह यहाँ बताया जाता है।

रति आदि स्थायी भावों की परिभाषा

१. रति—स्त्री और पुरुष की, एक दूसरे के विषय में, प्रेम नामक जो चित्तवृत्ति होती है, उसे 'रति' कहते हैं।

२. शोक—पुत्र आदि अपने प्रिय व्यक्ति के वियोग अथवा मरण से उत्पन्न होने वाली 'व्याकुलता' नामक चित्तवृत्ति को 'शोक' कहते हैं।

३. निर्वेद—वेदान्त आदि शास्त्रों के निरन्तर चिन्तन से संसार की अनित्यता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाली 'विषयों से वैराग्य' नामक चित्तवृत्ति को 'निर्वेद' कहते हैं।

४. क्रोध—अपने किसी प्रिय व्यक्ति तथा अपने प्रति किसी के प्रबल अपराध से उत्पन्न होने वाली 'जलन' नामक चित्तवृत्ति को 'क्रोध' कहते हैं।

५. उत्साह—दूसरे के पराक्रम और दान आदि के स्मरण से उत्पन्न होने वाली 'उन्नतता' नामक चित्तवृत्ति को 'उत्साह' कहते हैं।

६. विस्मय—अलौकिक वस्तु के देखने आदि से उत्पन्न होने वाली 'आश्चर्य' नामक चित्तवृत्ति को 'विस्मय' कहते है।

७. हास—बोलने, अङ्गों तथा वेष-भूषा के विकार को देखने आदि से उत्पन्न होने वाली 'खिल जाना' नामक चित्तवृत्ति को 'हास' कहते हैं।

८. भय—बाघ आदि भयंकर जंतु के दर्शन से—जो प्रबल अनर्थ के विषय में हुआ करती है—उत्पन्न 'व्याकुलता' नामक चित्तवृत्ति को 'भय' कहते हैं।

९. जुगुप्सा—घृणित वस्तु के देखने आदि से उत्पन्न होने वाली 'घृणा' नामक चित्तवृत्ति को 'जुगुप्सा' कहते हैं।

१०. वात्सल्य—छोटे बच्चों के प्रति जो 'प्रेम' नामक चित्तवृत्ति होती है उसे 'वात्सल्य' कहते हैं।

किस स्थायी भाव से कौन रस बनता है—रति से शृङ्गार, शोक से करुण, निर्वेद से शान्त, क्रोध से रौद्र, उत्साह से वीर, विस्मय से अद्भुत, हास से हास्य, भय से भयानक, जुगुप्सा से बीभत्स और वात्सल्य से वत्सल रस बनते हैं।

विभाव

रति आदि स्थायी भावों को जगा देने के जो कारण हैं उन्हें विभाव कहते हैं।

विभाव शब्द का अर्थ है विशेष रूप से 'भाव' को जगा देने वाला। स्थायी भाव वासनारूप से हृदय मे वर्तमान रहते हैं, ये उन्हें अपने व्यापार से जगा देते हैं। लोक मे ये भावों के कारण होते हैं।

विभाव दो प्रकार का होता है—१ आलम्बन और २ उद्दीपन।

आलम्बन—स्थायी भाव जिसके विषय मे होता है उसे आलम्बन विभाव कहते हैं।

दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला के प्रेम वर्णन मे दुष्यन्त आलम्बन विभाव है, क्योंकि दुष्यन्त के विषय मे शकुन्तला के हृदय में प्रेम हुआ है। शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के प्रेम वर्णन में शकुन्तला आलम्बन विभाव है। इसी प्रकार रामायण के लक्ष्मण-परशुराम संवाद में लक्ष्मण के प्रति परशुराम जी के क्रोध का वर्णन है। अतः लक्ष्मण यहाँ क्रोध का आलम्बन विभाव है। परशुराम जी के स्वयंवर-सभा में प्रवेश के समय राजाओं के भय के कारण भागना,

छिपना आदि का वर्णन है। वहाँ भय का आलम्बन परशुराम अ
हैं, जिनके विषय मे 'भय' उत्पन्न हुआ है।

उद्दीपन विभाव—आलम्बन विभाव के द्वारा उत्पन्न स्थायि
भाव को जो उद्दीप्त करते हैं, बढ़ा देते हैं, उन्हें उद्दीपन विभ
कहते हैं।

जैसे आग लकड़ियों के द्वारा जलती रहती है, पर घी
पड़ते ही प्रदीप्त हो उठती है। उसी प्रकार स्थायी भाव उत्पन्न हो
जाता है—आलम्बन विभाव से, पर आग में घी का काम क
हैं—उद्दीपन विभाव

पूर्वोक्त परशुराम का क्रोध अपराधी लक्ष्मण—आलम्बन
प्रकट हुआ, लक्ष्मण की कटूक्तियों ने उसे और भड़का दिया, अ
मे घी का काम किया। अतः वे उद्दीपन विभाव हैं।

इसी प्रकार राजाओं के हृदय मे परशुराम आलम्बन
आविर्भूत 'भय' को उनका परशु और भयंकर आकार बढ़ा दे
है। अतः 'भय' का उद्दीपन विभाव हुआ 'परशु' और 'भयं
आकार' आदि।

उद्दीपन विभाव दो प्रकार के हैं—एक आलम्बन की चे
और दूसरे बाह्य कारण अर्थात् जो आलम्बन में नहीं रहते।

उपर्युक्त परशुराम के क्रोध के उदाहरण में लक्ष्मण
कटुवचन उद्दीपन लक्ष्मण-रूप आलम्बन में ही हैं। शृङ्गार में
और नायिका रूप आलम्बनों की चेष्टाएँ भी उद्दीपन होंगी
उनसे पृथक् [illegible] देश काल की परिस्थिति भी—उपवन,
और [illegible] युद्ध-यात्रा मे युद्ध-वीर के उत्साह को
बाजे [illegible] रूप शत्रु की चेष्टाएँ ललकारना
होंगे, [illegible] की 'शस्त्रास्त्र' आदि
[illegible] प्रकार [illegible]

राजाओं के भय के—परशुराम आलम्बन से अलग रहने वाले—अन्य लोगों का भागना, चुप रहना आदि भी उद्दीपन होंगे।

शृङ्गार रस के आलम्बन नायक और नायिका निश्चित हैं, अन्य रसों के आलम्बन निश्चित नहीं। 'क्रोध' न मालूम कितनों के प्रति आता है, निर्जीव पदार्थों तक पर आता है। अतः यह निर्णय करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है कि किस रस के कौन से आलम्बन हैं, सिवाय शृङ्गार के। शृङ्गार के विषय मे तो निर्णय हो चुका है और यह निर्णय सर्व-मान्य भी हो गया है कि इसके आलम्बन नायक और नायिका हैं। शेष रसों के स्थायी भाव ऐसे हैं कि उनके आलम्बनों की संख्या नियत नहीं की जा सकती। उद्दीपन तो और भी अधिक हैं अतएव उनका निर्णय करना और भी कठिन है। प्रत्येक रस के प्रकरण मे उनके यथासंभव निश्चित आलम्बन बताये जायँगे और उद्दीपन भी। आलम्बनो के विषय में कुछ अन्य विचार भी उन उन रसों के निरूपण के समय किया जायगा।

अनुभाव

आलम्बन विभाव के द्वारा अङ्कुरित और उद्दीपन विभाव के द्वारा पल्लवित होने पर स्थायी भाव के आश्रय में जो चेष्टाएँ होती हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं।

यहाँ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि भाव के दो पक्ष होते हैं, एक तो वह जिसके विषय में भाव प्रवृत्त हुआ हो और दूसरा वह जिसके हृदय में भाव उद्बुद्ध हुआ हो। प्रथम को आलम्बन और द्वितीय को आश्रय कहते हैं। आलम्बन की चेष्टाओं को उद्दीपन कहा जा चुका है। आश्रय की चेष्टाओं को अनुभाव कहते हैं।

सञ्चारी भाव

स्थायी भावों के साथ बीच बीच में प्रकट होने वाले मनोभावों को सञ्चारी भाव कहते हैं।

मनोभाव दो प्रकार के हैं, यह पहले कहा जा चुका है। उनमें ये सञ्चारी भी हैं। सञ्चारी, इन्हें इसलिये कहते हैं कि ये कभी कभी बीच में व्यक्त होकर स्थायी भाव को पुष्ट करते हैं, वे स्थिर नहीं रहते, जरा देर अपनी झलक दिखाकर विलीन हो जाते हैं। स्थायी भाव रसास्वाद-पर्यन्त स्थिर रहते हैं। वे लवण-सागर के समान हैं। जैसे लवण-सागर मे पड़कर प्रत्येक वस्तु लवण बन जाती है और इस प्रकार वह लवण की वृद्धि का कारण बनती है, इसी प्रकार सञ्चारी भाव उत्पन्न होकर स्थायी में मिलकर तद्रूप बन जाते हैं और उनको परिपुष्ट करते हैं, 'रति' स्थायी भाव के साथ बीच बीच मे प्रकट होने वाले 'औत्सुक्य' आदि उसी में लीन हो जाते हैं और उसी को परिपुष्ट करते हैं।

उदाहरण के लिये पूर्वोक्त परशुराम जी के क्रोध के बीच बीच में प्रकट होने वाले गर्व, उग्रता, चपलता आदि भाव सञ्चारी हैं। ये थोड़ी देर तक चमकते हैं और फिर स्थायी क्रोध को परिपुष्ट कर विलीन हो जाते हैं।

इसी प्रकार राजाओं के 'भय' के साथ उनके हृदय में आवेग, जड़ता, शङ्का (न मालूम परशुराम हमारा क्या करेंगे, हम बचेंगे कि नहीं) आदि भाव भी प्रकट होते हैं, जो कि 'भय' स्थायी भाव को परिपुष्ट कर विलीन हो जाते हैं।

इन सञ्चारी भावों को 'व्यभिचारी' भी कहते हैं, क्योंकि ये किसी 'स्थायी' भाव के साथ नियत नहीं, कभी किसी के साथ अभिव्यक्त होते हैं और कभी किसी के। लज्जा भाव कभी तो 'रति'

के साथ व्यक्त होता है और कभी 'भय' के साथ। 'हर्ष' शृङ्गार में भी व्यक्त होता है और हास्य मे भी। इसी प्रकार इन भावों के किसी के साथ नियत न होने से इन्हें 'व्यभिचारी' कहा जाता है। 'व्यभिचार का अर्थ है अनियतता। व्यभिचार होने से इन्हे 'व्यभिचारी' कहा गया है।

भावों को सदा व्यङ्ग्य ही रहना चाहिये—भावों के प्रसङ्ग से एक बात यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि ये भाव अनुभावों के द्वारा व्यञ्जित किये जाने चाहियें। इन्हे वाच्य कभी न करना चाहिये। वाच्य करने में न केवल चमत्कार नहीं रहता, प्रत्युत इनकी प्रतीति भी नहीं होती। 'लक्ष्मण को देखकर परशुराम जी को क्रोध आ गया' कहने से क्रोध की अभिव्यक्ति ज़रा भी नहीं होती। पर जब अनुभाव के द्वारा इसे यों प्रकट किया जाय कि 'उनकी आँखे लाल हो गई और ओठ फड़कने लगे और उन्होंने मारने के लिये फरसा उठाया और लक्ष्मण को कहा तुम मेरे इस परशु को नहीं जानते, यह बड़ा निर्दय है, यह गर्भ के बालकों को भी कई बार काट चुका है, अब तुम भी बच नहीं सकते'। इस प्रकार कहने में 'क्रोध' का चित्र खिंच जाता है। 'भाव' को वाच्य करना तो ग्राम्यता है, विदग्धता नहीं। विदग्धता भाव को व्यङ्ग्य रखने मे है। 'वह शरमा गया' और 'उसने आँखें नीची कर लीं' इन दोनों वाक्यों के द्वारा लज्जा भाव बतलाया गया है। पहले वाक्य में उसे वाच्य कर दिया गया और दूसरे मे व्यङ्ग्य रखा गया है। व्यङ्ग्य-स्थल में चमत्कार है, इसे कौन सहृदय स्वीकार न करेगा। किस सहृदय को 'भाव' के व्यङ्ग्य होने में चमत्कार का अनुभव नहीं होता?

'भाव' को वाच्य करना न केवल चमत्कार-शून्य ही होता है, अपितु ऐसा करना दोष भी माना गया है। यह अनुभव से उचित

भी मालूम पड़ता है। व्यङ्ग्य मे आँखों के सामने भाव का चित्र खिंच जाता है और इसमे रसानुकूलता रहती है।

ये भाव सहायक रूप में ही सञ्चारी होते हैं।

यहाँ यह जान लेना भी आवश्यक है कि ये भाव जब किसी अन्य प्रधान भाव के सहायक रूप मे व्यञ्जित होंगे, तभी सञ्चारी कहे जायँगे। इनका सञ्चारी नाम तभी सङ्गत होगा। जब ये स्वतन्त्र रूप से व्यञ्जित होंगे अर्थात् किसी के सहायक रूप में न आये होंगे, तब ये सञ्चारी नहीं कहे जायँगे। ऐसी दशा मे यदि ये व्यङ्ग्य होंगे तो 'भाव-ध्वनि' कहे जायँगे (जिसका निरूपण आगे किया जायगा) और यदि वाच्य होंगे, तो केवल 'भाव'। उदाहरण के लिये यदि 'लज्जा' भाव रति के सहायक रूप मे व्यञ्जित होगा, तो सञ्चारी कहा जायगा और यदि स्वतन्त्र रूप से—किसी के सहायक रूप में नहीं—व्यङ्ग्य होगा तो 'भाव-ध्वनि' कहा जायगा। सपत्नी के प्रति नायिका की ईर्ष्या यदि नायक-विषयक रति के सहायक रूप में व्यञ्जित होगी तो 'सञ्चारी' कही जायगी और यदि स्वतन्त्र रूप से अर्थात् प्रधान रूप से व्यङ्ग्य होगी तो 'भाव-ध्वनि' होगी।

ये सञ्चारी भाव प्राचीन आचार्यों ने तैंतीस माने हैं—

निर्वेद, ग्लानि, मद, मोह, विषाद, शङ्का,
आलस्य, धैर्य, मति, उत्सुकता, असूया।
उन्माद, स्वप्न, श्रम, त्रास, विबोध, निद्रा,
आवेग, दैन्य, अवहित्थ, वितर्क, व्रीड़ा।
चापल्य, गर्व, जड़ता, स्मृति, व्याधि, हर्ष,
चिन्ता तथा धृति, अपस्मृति औ अमर्ष।
तैंतीस हैं सब मिलाकर उग्रता ये,
सञ्चारिभाव कहते इनको प्रवीन।

अब इन सञ्चारी भावों के लक्षण दिये जाते हैं। ये भाव चित्तवृत्ति-विशेष हैं और इन्हे अनुभावों के द्वारा व्यञ्जित करना चाहिये, अतः प्रत्येक के साथ उसके अनुभाव बताये गये हैं—

१. निर्वेद—विषयों से द्वेष को निर्वेद कहते हैं। यह साधारण पुरुषों को तिरस्कार होने, रोगी होने, पिटवाने, दरिद्रता, अभीष्ट पदार्थ के न मिलने के कारण उत्पन्न होता है और उत्तम प्रकृति के पुरुषों को जरा सी अवज्ञा होने से ही हो जाता है। इसके अनुभाव हैं—रोना, लम्बी साँस लेना, मुख पर दीनता झलकना, एकान्त सेवन आदि।

स्थायी निर्वेद और सञ्चारी निर्वेद का अन्तर

जो परमार्थ के चिन्तन तथा संसार को असार समझने के कारण उत्पन्न होता है, वह निर्वेद स्थायी होता है, वही शान्त रस बनता है। और जो गृह-कलह, शोक, इष्ट वस्तु न मिलने के कारण सांसारिक कष्टों से घबरा कर 'रांड मुये भये संन्यासी' रूप उनसे बचने के लिये होता है, वह निर्वेद सञ्चारी होता है। वियोग के वर्णन में जब विषयों से अरति का वर्णन होता है, तब यह वैराग्य सञ्चारी होता है। करुण रस में इष्ट की मृत्यु के कारण शोक-संतप्त व्यक्ति का मन सांसारिक पदार्थों से हट जाता है, तब निर्वेद सञ्चारी होता है। परमार्थ चिन्तन से और संसार की नश्वरता का विचार करने से उत्पन्न वैराग्य स्थायी होता है। 'यशोधरा' में वर्णित सिद्धार्थ का गृह-त्याग इसी प्रकार का है, अतः वहाँ निर्वेद स्थायी है।

२. ग्लानि—मानसिक कष्ट, शारीरिक रोग तथा भूख प्यास आदि से उत्पन्न निर्बलता के कारण जो एक प्रकार का दु:ख हृदय में होता है उसे ग्लानि कहते हैं। इसके अनुभाव हैं—विवर्णता, शरीर की शिथिलता और आँखों का घूमना आदि।

३. मद—मद्य आदि के उपयोग से उत्पन्न, बेहोशी और आनन्द के मेल रूप 'उल्लास' नामक चित्तवृत्ति को 'मद' कहते हैं। इसके अनुभाव हैं—सोना, रोना, झूमते हुए चलना, गिर पड़ना, अटपटी तथा अधूरी बातें कहना।

४. मोह—भय और वियोग आदि से उत्पन्न होने वाली उस चित्तवृत्ति को मोह कहते हैं, जिसमे वस्तु का वास्तविक ज्ञान नहीं होता। इसके अनुभाव हैं—इन्द्रियों का चेष्टा-शून्य हो जाना आदि।

५. विषाद—कार्य में असफलता तथा अपने से अपराध हो जाने के कारण उत्पन्न होने वाली 'पश्चात्ताप' नामक चित्तवृत्ति को विषाद कहते हैं। अनुभाव—लम्बी साँस भरना आदि।

६. शङ्का—अन्य की क्रूरता तथा अपने अपराध के कारण उत्पन्न 'मेरा क्या अनिष्ट होगा' इस प्रकार की जो चित्तवृत्ति है, उसे 'शङ्का' कहते हैं। इसके अनुभाव हैं—व्याकुलता से इधर उधर देखना, काँपना, स्वरभङ्ग तथा मुँह का सूखना आदि।

७. आलस्य—अत्यधिक तृप्ति और रोग आदि के कारण काम न करने की इच्छा को आलस्य कहते हैं। अनुभाव—जँभाई लेना, अँगड़ाई लेना और एक स्थान पर बैठे रहना, लेटे रहना आदि।

८. धैर्य—विवेक और इष्ट की प्राप्ति आदि कारणों से उत्पन्न जिस चित्तवृत्ति के कारण लोभ, शोक और भय आदि से उत्पन्न उपद्रव शान्त हो जाते हैं—उसे 'धैर्य' कहते हैं। इसके अनुभाव—चञ्चलता तथा व्याकुलता आदि का दूर हो जाना, स्थिरता, समझदारी की बातें करना आदि।

९. मति—शास्त्र आदि के विचार से किसी वस्तु के निर्णय को मति कहते हैं। इसके अनुभाव हैं—सन्देह नष्ट हो जाना तथा निर्भय होकर कार्य करना आदि।

१०. उत्सुकता—'इष्ट वस्तु मुझे अभी मिल जाय' इस रूप की विलम्ब न सहने की चित्तवृत्ति को 'उत्सुकता' कहते हैं। अनुभाव—चिन्ता करना, शीघ्रता करना आदि।

११. असूया—दूसरे के उत्कर्ष देखने आदि से उत्पन्न असहिष्णुता नामक चित्तवृत्ति को असूया कहते हैं। इसके अनुभाव हैं—दूसरे की निन्दा करना, किसी के बनते काम में विघ्न डालने का प्रयत्न करना आदि।

१२. उन्माद—वियोग अथवा किसी बड़े भारी संकट के उपस्थित होने वा अत्यधिक आनन्द से उत्पन्न जो चित्त की भ्रान्ति होती है, उसे उन्माद कहते हैं। अनुभाव—कुछ का कुछ समझ लेना, अकस्मात् हँसना तथा रोना आदि।

१३. स्वप्न—निद्रा के कारण उत्पन्न ज्ञान को स्वप्न कहते हैं। इसके अनुभाव प्रलाप आदि हैं।

१४. श्रम—अत्यधिक शारीरिक कार्य करने से जो एक प्रकार का खेद उत्पन्न होता है, उसे श्रम कहते हैं। इसके अनुभाव हैं—जल्दी जल्दी साँस चलना, अँगड़ाई आना, निद्रा आना आदि।

१५. त्रास—बिजली की कड़क आदि भय के हेतु से उत्पन्न चित्तवृत्ति को 'त्रास' कहते हैं। इसके अनुभाव हैं—रोमाञ्च, कम्प, स्तम्भ और भ्रान्तचित्त हो जाना। यह 'भय' का हलका रूप है।

१६. विबोध—निद्रा टूटने अथवा अज्ञान दूर होने के अनन्तर जो 'चेतना' उत्पन्न होती है—उसे 'विबोध' कहते हैं। इसके अनुभाव हैं—आँख मलना, अँगड़ाई लेना, जँभाई लेना तथा चेहरे पर प्रसन्नता तथा गम्भीरता झलकना आदि।

१७. निद्रा—श्रम और भय आदि के उपयोग से उत्पन्न चित्त के अपने व्यापार से विरत हो जाने को 'निद्रा' कहते हैं। इसके अनुभाव हैं—आँख मुँद जाना, अङ्गों का निश्चेष्ट हो जाना आदि।

१८. आवेग—अनर्थ की अधिकता के कारण उत्पन्न 'सम्भ्रम' नामक चित्तवृत्ति को 'आवेग' कहते हैं। अनुभाव—अस्थिरता, इधर उधर भागना आदि।

१९. दैन्य—दुःख, दरिद्रता और अपराध आदि के कारण उत्पन्न चित्तवृत्ति को 'दैन्य' कहते हैं। इसके अनुभाव हैं—मलिनता, अपनी हीनता का वर्णन करना आदि।

२०. अवहित्थ—लज्जा आदि के कारण हर्ष आदि की चेष्टाओं को छिपाने की जो चित्तवृत्ति होती है, उसे 'अवहित्थ' कहते हैं। अनुभाव—प्रकृत विषय को छोडकर अन्य विषय की बातें करना, दूसरी ओर देखना और निरुद्देश्य कार्य करना आदि।

२१. वितर्क—सन्देह आदि के अनन्तर उत्पन्न होने वाली तर्कना को 'वितर्क' कहते हैं। अनुभाव—तर्कमय वचन।

२२. व्रीड़ा—स्त्रियों में पुरुष के मुख के दर्शन आदि से और पुरुषों में प्रतिज्ञा-भङ्ग तथा पराजय आदि से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति को 'व्रीड़ा' कहते हैं। इसको लज्जा भी कहते हैं। अनुभाव—चेहरे का रंग बदल जाना, सिर का नीचा हो जाना, मुँह छिपाना आदि।

२३. चापल्य—अमर्ष, ईर्ष्या और राग-द्वेष आदि के कारण उत्पन्न चित्तवृत्ति—बिना विचारे काम करना—को चापल्य कहते हैं। अनुभाव—फटकारना, कठोर वचन कहना, पीटना आदि।

२४. गर्व—रूप, धन और विद्या आदि के कारण अपने उत्कर्ष ज्ञान को 'गर्व' कहते हैं। इसके अनुभाव हैं—दूसरों को फटकार देना, धृष्टतापूर्ण बातें करना आदि।

२५. जड़ता—चिन्ता, उत्कण्ठा, भय, विरह, इष्ट और अनिष्ट के देखने तथा सुनने से उत्पन्न आवश्यक कार्यों के प्रति उदासीनता-रूप चित्तवृत्ति को 'जड़ता' कहते हैं। अनुभाव—कार्य की

ओर प्रवृत्त न होना, चुप बैठे रहना, कुछ न बोलना, भूला हुआ सा हो जाना आदि।

२६. स्मृति—संस्कार के द्वारा उत्पन्न ज्ञान को 'स्मृति' कहते हैं। संस्कार पदार्थों के देखने और सुनने से हृदय पर पड़ता है। यह चिन्ता या सादृश्यज्ञान के कारण उत्पन्न होती है। अनुभाव—भौंहों का ऊँचा होना और निश्चल होना आदि।

२७. व्याधि—रोग और वियोग के कारण उत्पन्न होने वाले मन के ताप को 'व्याधि' कहते हैं। इसके अनुभाव हैं—अङ्गों मे शिथिलता होना तथा लम्बी साँसें चलना, अङ्गों का पटकना आदि।

२८. हर्ष—इष्ट पदार्थ की प्राप्ति आदि से जो एक प्रकार का सुख-विशेष होता है, उसे 'हर्ष' कहते हैं। अनुभाव—मुख और नेत्रों मे दमक, प्रिय वचन, रोमाञ्च, आँसू और पसीना आदि।

२९. चिन्ता—इष्ट की अप्राप्ति तथा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न ध्यान नामक चित्तवृत्ति को 'चिन्ता' कहते हैं। अनुभाव—चेहरे का रंग बदलना, ज़मीन कुरेदना, मुख का झुकना आदि।

३०. मृति—रोग आदि के कारण मूर्च्छा-रूप मरण की पूर्व अवस्था को 'मृति' अथवा 'मरण' कहते हैं। अनुभाव—चेतना का नाश हो जाना आदि। अमङ्गल-जनक होने से वास्तविक मरण यहाँ नहीं लिया जाता।

३१. अपस्मृति—वियोग, शोक, भय और घृणा आदि की अधिकता के तथा भूत प्रेत की बाधा आदि के कारण उत्पन्न रोग को 'अपस्मृति' या 'अपस्मार' कहते हैं। अनुभाव—अकस्मात् गिर पड़ना 'मुँह से फेन निकलना और हाथ पैर पटकना आदि।

३२. अमर्ष—दूसरे के द्वारा हुए अपमान आदि अनेक अपराधों से उत्पन्न होने वाली 'असहिष्णुता' नामक चित्तवृत्ति को अमर्ष कहते हैं। अनुभाव—चुप हो जाना, आँखों का लाल हो

जाना, भौंहों का चढ़ जाना आदि। इसमें या तो मौन धारण होता है या कठोर वचनों का प्रयोग। यह क्रोध का हलका रूप है।

३३. उग्रता—तिरस्कार तथा अपमान आदि से उत्पन्न 'इसका क्या कर डालूँ' इस प्रकार की निर्दयता रूप चित्तवृत्ति को 'उग्रता' कहते हैं। अनुभाव—दूसरे को पकड़ना, मारना-पीटना आदि।

क्या सञ्चारी भाव तेंतीस ही हैं ?

यहाँ प्राचीन आचार्यों के सम्मत तेंतीस ही सञ्चारी भाव दिखाये गये हैं। अन्तःकरण की वृत्तियाँ अनन्त हैं, परन्तु केवल तेंतीस सञ्चारी भावों का परिगणन प्राचीन आचार्यों के मतानुसार किया गया है। इनके अतिरिक्त जो भी भाव होंगे उनका इन्हीं तेंतीस में अन्तर्भाव हो जाता है। यों थोड़ा थोड़ा अन्तर तो उनमें रहेगा ही, पर प्रधान वस्तुएँ उनमें एक जैसी होंगी। उदाहरणार्थ—मात्सर्य का असूया में, उद्वेग का त्रास मे, दम्भ का अवहित्थ में, विवेक और निर्णय का मति में, क्षमा का धृति में, सङ्कोच का लज्जा मे अन्तर्भाव हो जाता है।

स्थायी और सञ्चारी नियत नहीं

इसके पहले भी बताया जा चुका है कि निर्वेद आदि सदा सञ्चारी ही नहीं रहते। सञ्चारी ये उस अवस्था में ही कहे जायँगे जब किसी अन्य भाव के सहायक रूप में आयँगे। अन्य भाव चाहे रति आदि में से हों, चाहे इन्हीं में से। इन तेंतीस मे भी एक दूसरे के सञ्चारी होते हैं, जब ये दूसरे के सहायक रूप मे आते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि 'सञ्चारी' नियत उपाधि नहीं, अपितु अवस्था के ऊपर निर्भर है।

इसी प्रकार 'स्थायी' भी कोई नियत उपाधि नहीं, अपितु 'रति' आदि जब प्रधान रूप से व्यञ्जित होंगे और अन्य भाव इनके

सहायक रूप मे अभिव्यक्त होंगे, तभी ये 'स्थायी' कहे जायँगे। यदि ये पूर्ण रूप से परिपुष्ट न होंगे, तो स्थायी न कहे जायँगे तथा यदि ये किसी अन्य भाव के सहायक रूप से व्यञ्जित होंगे, तब भी इन्हे स्थायी न कहा जायगा, उस दशा में ये भी सञ्चारी कहे जायँगे। जैसे हास हास्य रस मे प्रधान रूप से व्यञ्जित होने के कारण स्थायी होगा, पर शृङ्गार में सहायक रूप से व्यञ्जित होने के कारण सञ्चारी होगा। इसी प्रकार 'उत्साह' वीर मे स्थायी, रौद्र मे सञ्चारी, 'क्रोध' रौद्र मे स्थायी, वीर मे सञ्चारी, 'जुगुप्सा' वीभत्स मे स्थायी और शान्त में सञ्चारी होगी।

इसी प्रकार निर्वेद आदि ये तेंतीस भाव भी जब किसी के सहायक-रूप मे न आकर प्रधान रूप से व्यञ्जित होंगे, तब स्थायी ही होंगे। पर रति आदि स्थायी भावों को ही 'रस' बनने योग्य समझा गया है, इन्हे नहीं। इन्हे स्थायी होने पर भी 'भाव-ध्वनि' कहा जाता है।

यहाँ तक रस की कारण-सामग्री पर विचार किया गया। अब उदाहरण देते हुये रसों का निरूपण करना चाहिये। पर उसके पूर्व रस के सम्बन्ध मे कुछ अवश्य ज्ञातव्य विषयों का विवेचन रस-रहस्य समझने मे परम उपयोगी होने से किया जाता है। उनका यहाँ पर विवेचन न होने से 'रस-रहस्य' का निरूपण अपूर्ण सा रह जायगा।

रस का आश्रय

अब तक के विवेचन से यह विदित हुआ कि रस से सम्बन्ध कई व्यक्तियों का है—१. आलम्बन, २. आश्रय, ३. अनुकर्ता (यह नाटक में होता है), ४. सामाजिक—काव्य को पढ़ने और सुनने वाला तथा नाटक को देखने वाला। आलम्बन और आश्रय को नाटक में अनुकार्य कहते हैं, क्योंकि उनका ही अनुकरण अर्थात्

अभिनय किया जाता है। नट को अनुकर्ता कहा जाता है क्योंकि वह अनुकार्य का चारों प्रकार से अनुकरण अर्थात् अभिनय करता है। इन चारों मे रस—जिसे आनन्दस्वरूप कहा गया है—का आश्रय कौन है—यह विचार यहाँ करना है। यहाँ संक्षेप से ही विचार किया जायगा।

वर्णन के विषय जो व्यक्ति हैं जिन्हे नाटक में अनुकार्य कहा जाता है, उनमें तो 'रस' नहीं रहता, क्योंकि उनके भाव लौकिक होते हैं, वे लौकिक व्यक्ति होते हैं और लौकिक रति आदि भाव से सर्वथा आनन्द नहीं मिला करता। लौकिक शोक से तो शोक ही प्राप्त होगा, घृणित वस्तु देखने से घृणा ही पैदा होगी। एक बात और भी है कि अनुकार्य काव्य के पठन या श्रवण के तथा अभिनय के समय उपस्थित भी तो नहीं होता, फिर यदि रस उसमें माना जाय तो, तब उसके अभाव मे रस होना ही नहीं चाहिये। क्योंकि अब अनुकार्य दुष्यन्त शकुन्तला आदि नहीं, इसलिये अब शकुन्तला नाटक मे रस ही नहीं होना चाहिये। पर 'शकुन्तला' नाटक से अभी भी 'आनन्द' की प्राप्ति अनुभव-सिद्ध है। दूसरी बात यह है कि यदि आनन्दस्वरूप रस अनुकार्य में रहा, तो सहृदय सामाजिक की काव्य की ओर क्यों प्रवृत्ति होगी। अतः अनुकार्य में 'रस' की स्थिति नहीं मानी जा सकती।

इसी कारण 'अनुकर्ता' में भी 'रस' नहीं माना जा सकता। क्योंकि तब आनन्द अनुकर्ता को मिलेगा, फिर सामाजिक नाटक के देखने में क्यों प्रवृत्त होगा? नट के आनन्द से सामाजिक को तो आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। दूसरे के आनन्द से दूसरे को आनन्द हो नहीं सकता। देवदत्त के लड्डू खाने से यज्ञदत्त को लड्डू खाने का आनन्द नहीं मिलता। एक बात यह भी है यदि अनुकर्ता अपने ही भावों को प्रकट करता है, यह माना जाय, तो यह है

नहीं सकता। कोई भी इस प्रकार अपने भावों का लोगों के सामने प्रदर्शन न करेगा। अतः अनुकर्ता में भी 'रस' नहीं हो सकता।

तब जैसे पहले कहा जा चुका है कि 'रस' सहृदय सामाजिक के हृदय में अभिव्यक्त होता है। काव्य और नाटक के पढ़ने, सुनने और देखने से उपस्थित विभावादि कारण-सामग्री से सामाजिक के हृदय में वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायी भाव का उद्बोध होकर आस्वाद होने लगता है। वह आस्वाद ही रस है, वह आनन्द-स्वरूप है। अतः सिद्ध हुआ कि सामाजिक के हृदय में रस होता है और उसी को उसका आस्वाद होता है।

पर तब एक प्रश्न यहाँ हो सकता है कि यदि सामाजिक ही 'रस' का आश्रय है, तो काव्य को सरस क्यों कहा जाता है? 'यह काव्य सरस है, इस काव्य में रस है?' ऐसा व्यवहार सर्व-साधारण में प्रसिद्ध है, फिर इस व्यवहार की सङ्गति कैसे होगी? इसका समाधान यह है कि काव्य को सरस कहने का तात्पर्य यह होता है कि काव्य मे यह तत्त्व वर्तमान है, जिसके द्वारा सामाजिक के हृदय में वासना रूप मे स्थित रत्यादि स्थायी भाव 'रस' रूप को प्राप्त हो जाते हैं। अतएव 'इस काव्य से हमें बड़ा रस मिला' आदि व्यवहार भी उपपन्न हो जाता है। काव्य का रस के आस्वाद में विभाव आदि कारण-सामग्री उपस्थित करने में उपयोग है। उतने उपयोग से ही उसे 'सरस' कहा जाता है।

आश्रय की आवश्यकता

पूर्वोक्त चार व्यक्तियों मे परस्पर सम्बन्ध है। आलम्बन का आश्रय से और इन दोनों का अनुकर्ता से तथा अनुकर्ता का सामाजिक से। यह तो स्थिति है दृश्य काव्य की। श्रव्य काव्य में अनुकर्ता नहीं रह जाता। आलम्बन और आश्रय के सम्बन्ध से,

सामाजिक को रसास्वाद हो जाता है। पर कुछ रस ऐसे भी हैं जहाँ 'आश्रय' भी नहीं रह जाता। जैसे हास्य रस में हास के आलम्बन के द्वारा ही सामाजिक के हृदय में हास का रसात्मक अनुभव होता है। आलम्बन को देखकर कोई हँसता हो, तभी उसके द्वारा सामाजिक को रसात्मक अनुभव हो, ऐसा ही अनुभव मे नहीं आता। प्रत्युत काव्य नाटकों में 'आश्रय' को प्राय: रखा ही नहीं जाता। शकुन्तला के विदूषक की उक्ति पर जब दुष्यन्त हँसे, तभी सामाजिक को 'हास' का रसात्मक अनुभव होता हो, ऐसा ही देखने मे नहीं आता। विदूषक की उक्ति पर दर्शक या पाठक को विना 'आश्रय' की अपेक्षा किये 'रस' का आस्वाद होता है—यह भी अनुभव-सिद्ध है। इस आपत्ति को दूर करने के लिये कुछ लोग ऐसे स्थलों में भी आक्षेप द्वारा 'आश्रय' की कल्पना करते हैं। जहाँ कवि किसी अपने ही भाव का वर्णन करता है वहाँ वही आश्रय होता है। आज कल की कविता में प्राय: कवि ही स्वयं आश्रय होता है।

करुण आदि रस में आनन्द

रस आनन्द-स्वरूप कहा गया है, पर भय, शोक और घृणा स्थायी भावों से आनन्द कैसे मिल सकता है? यद्यपि ऐसा कहना सत्य तो है, परन्तु जो लोक में होता है, वही तो काव्य-संसार में नहीं होता। काव्य में ऐसी अपूर्व शक्ति है—जिसके द्वारा ये विभावादि आनन्द की ही अभिव्यक्ति करने लगते हैं। लोक में ये भय आदि भाव बेशक आनन्द के कारण नहीं, पर काव्य के द्वारा अभिव्यक्त होने पर ये आनन्द ही देते हैं, काव्य के द्वारा भावों का रसात्मक अनुभव होता है। काव्य के द्वारा अभिव्यक्त भाव लौकिक-वास्तविक भावों की अपेक्षा विलक्षण होते हैं। अतएव सब आनन्द ही अनुभव करते हैं। सहृदय सामाजिक का इन काव्य से अभिव्यक्त भावों के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रहता।

करुणा रस के अनुभव मे आँसू आते हैं, पर वे दुःख के कारण नहीं होते। वे तो आनन्द के कारण होते हैं। आनन्द के आँसू लोक मे प्रसिद्ध हैं। जिस प्रसङ्ग के पढ़ने, सुनने और अभिनय देखने में 'करुणा' का प्रवाह उमड पड़ता है, उसे लोग बार बार और बड़े चाव से पढ़ते, सुनते, और देखते हैं। करुणा प्रसङ्ग के प्रति अधिक और इच्छापूर्वक प्रवृत्ति से यही सिद्ध होता है कि उससे आनन्द ही प्राप्त होता है। कोई भी बुद्धिमान् दुःख की ओर प्रवृत्त नहीं होता है। यदि 'करुणा' से दुःख होता तो लोग ऐसे काव्यों को कभी न पसन्द करते। अतः अनुभव से भी सिद्ध है कि करुणा रस मे भी आनन्द की ही प्राप्ति होती है। यदि किसी को दुःख का अनुभव हुआ है, तो भी इतना तो अवश्य निश्चित है कि दुःख की अपेक्षा सुख बहुत अधिक होता है। अतः अन्य रसों के समान आनन्द ही प्राप्त होता है।

रसों की संख्या

रस दस हैं—शृङ्गार, करुण, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स और वत्सल।

रसों की संख्या के विषय में भी पर्याप्त विवाद है। कुछ लोग नाटक मे शान्त रस की सत्ता स्वीकार नहीं करते। 'वत्सल' को पहले किसी ने रस नहीं माना, परन्तु अब प्रायः सभी ने स्वीकार कर लिया है। 'शान्त' रस के सम्बन्ध का विवाद बहुत प्राचीन है, उसका निर्णय आचार्यों ने पहले ही कर दिया है। उसकी चर्चा यहाँ कर देना अप्रासङ्गिक न होगा।

नाटक में शान्त रस

कुछ लोग काव्य में ही शान्त रस की सत्ता स्वीकार करते हैं, नाटक में नहीं। उनका आशय यह है कि शान्त

कहते हैं—प्रधान रूप से व्यङ्गय हो तो भाव-ध्वनि कही जाती है। राजा तथा गुरु जनों के विषय में जो प्रेम होगा, वह भी भाव-ध्वनि के अन्तर्गत है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि इनका रस की अपेक्षा कम महत्त्व है। दोनों स्थलों मे भावों की अभिव्यक्ति होती है। दोनों के आस्वादों मे आनन्द का अनुभव होता है। नाम भिन्न होने से इनमे कोई विशेष तात्त्विक अन्तर नहीं आ जाता। चमत्कार तो इनके व्यङ्गय होने मे है। व्यङ्गय ये सब होते हैं। केवल नाम का अन्तर पडता है। कुछ भावों की व्यञ्जना को रस नाम दे दिया गया है, कुछ को भाव। इनमे नाम-भेद के अतिरिक्त कोई विशेष अन्तर नहीं।

अब आगे इन रसों का पृथक् पृथक् लक्षण तथा विभाव आदि निर्देश के साथ उदाहरण देते हुए विवेचन किया जाता है। उनमें सर्वप्रथम 'शृङ्गार' का विवेचन किया जायगा, क्योंकि इस रस का अनुभव प्रायः सब को होता है। अतएव इसे 'रसराज' कहा जाता है।

शृङ्गार

विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त रति स्थायी भाव शृङ्गार रस कहलाता है।

'रति' प्रेम को कहते हैं। यहाँ स्त्री और पुरुष के पारस्परिक प्रेम से ही अभिप्राय है। वही 'शृङ्गार' रस बनता है। अन्य प्रेम-भाव ध्वनि के अन्तर्गत होते हैं—यह पहले बताया जा चुका है। स्त्री और पुरुष का भी जो प्रेम शुद्ध होगा, वही रस बन सकेगा। पति और पत्नी का ही प्रेम शुद्ध समझा जाता है, समाज और धर्म इसे ही उचित कहता है। अन्य प्रकार के स्त्री-पुरुषों का प्रेम रस नहीं बन पाता, वे रसाभास कहे जाते हैं। जहाँ प्रेम में अनौचित्य अ... वहाँ वह शृङ्गार का स्थायी नहीं हो सकता। अनौचित्य के क...

रस का स्थायी भाव निर्वेद है और वह नट मे होता नहीं, अतः शान्त रस की अभिव्यक्ति उसके द्वारा हो नहीं सकती । इसलिये नाटक मे शान्त रस नही होता । परन्तु विचार करने से यह ठीक नहीं मालूम पडता, क्योंकि नट मे किसी 'भाव' का होना स्वीकार नहीं किया गया । वह तो अपने अभिनय-कौशल से अपने हृदय में न होते हुए भी उन भावों को प्रकट करता है । सामाजिकों के हृदय मे वैराग्य संस्काररूप में रहता है, वह उद्बुद्ध होकर उनको रस का आस्वाद करा देता है । नट मे तो कोई भी भाव नहीं होता, वह तो भावों का अभिनय किया करता है । यदि वास्तव मे उसके हृदय में 'भाव' हों, तब वह इनका अभिनय कर ही न सके । उसमे वे 'भाव' कृत्रिम होते हैं, उन्हे अभ्यासवश वह प्रकट कर देता है । उसके वैराग्य को भी उस रूप में वह प्रकट कर ही सकता है । यदि यह कहा जाय कि नाटक मे गाना बजाना होता है और ये वैराग्य के विरोधी हैं । ऐसी दशा में सामाजिकों को भी शान्त रस का आस्वाद कैसे हो सकता है ? शान्त रस में तो विषयों से विमुख होना चाहिये, गाना बजाना विषय ही हैं । इसके सम्बन्ध मे यह कहा जायगा कि नाटक में सामाजिक को शान्त रस का अनुभव होता है—यह अनुभव-सिद्ध है और यह होता है गाना बजाना रूप विषय—वैराग्य-विरोधी सामग्री के रहते भी । तब फल के द्वारा यह सिद्ध होता है कि नाटक में गाना बजाना शान्त रस के विरोधी नहीं । अतः नाटक में भी शान्त रस होता है ।

रसों की संख्या इतनी ही क्यों ?

प्राचीन आचार्यों ने इतने ही रसों की गणना की है, इसलिए यहाँ भी इतने ही बताये गये हैं । भक्ति-मार्ग वाले भक्ति और सख्य नामक दो रस और मानते हैं, उनको यहाँ 'भाव-ध्वनि' के अन्तर्गत कर लिया गया है । देवताओं के विषय मे जो रति है, जिसे भक्ति में

उपवन, एकान्त स्थान, वसंन्त का समय आदि। ये दोनों दशा में 'रति' भाव को उद्दीप्त करते हैं। 'रति' जितनी उद्दीप्त होगी संयोग में उतना अधिक आनन्द होगा और वियोग में उतना ही अधिक दुःख। 'प्रेम' भाव के अधिक उद्दीप्त होने पर मिलन का न होना दुःख का कारण है।

अनुभाव—प्रेम से देखना और मुसकराना आदि संयोग में और विवर्णता, अश्रु, प्रलय और स्तम्भ आदि वियोग में।

सञ्चारी—औत्सुक्य, हर्ष और लज्जा आदि संयोग में और जड़ता, ग्लानि और निर्वेद आदि वियोग में।

शृङ्गार में वर्णन की जाने वाली वियोग दशा—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण—ये सब गुणकथन को छोडकर सञ्चारी ही हैं। गुण-कथन अनुभाव है।

अब इन दोनों के उदाहरण दिये जाते हैं—

संयोग शृङ्गार—

कहुँ बाग तड़ाग तरंगिनि तीर तमाल की छाँह विलोकि भली,
घटिका यक बैठत हैं सुख पाय बिछाय तहाँ कुस कास थली।
मग को श्रम श्रीपति दूर करैं सिय को शुभ बाक्‍ल अंचल सों,
श्रम तेऊ हरैं तिन को कहि 'केशव' चंचल चारु दृगंचल सों।

—रामचन्द्रिका

वन जाते हुए रामचन्द्र जी और सीता जी के परस्पर अनुराग का सुन्दर वर्णन है। रामचन्द्र जी सुन्दर स्थान को देखकर आराम के लिये बैठ जाते हैं (इस अभिप्राय से कि सीता थक गई होंगी) और अपने वल्कल के अञ्चल से हवा कर सीता की थकावट को दूर करते हैं। सीता जी प्रिय पति को ऐसा करने से मना करती हैं पर मुँह से नहीं कहती, बाँकी चितवन से देखकर। आँखों से ही

वह सहृदयों को खटकता है। अतः परकीया-प्रेम का वर्णन—जिससे मध्यकाल का अधिकांश काव्य-संसार भरा पड़ा है—रसाभास के अन्तर्गत आयगा; रस के नहीं। यह बहुत कोमल रस है, इसमें जरा भी अनौचित्य नहीं आने देना चाहिये। गन्दी बातें शृङ्गार रस नहीं कही जातीं। इसमें तो ऐसा वर्णन करना चाहिये जिससे रति भाव व्यञ्जित हो। ग्राम्य ढंग से वर्णन करने मे तथा अशिष्ट बातों के वर्णन मे 'रस' नहीं रह सकता, प्रत्युत अश्लीलता आजाने के कारण शिष्टसमाज की दृष्टि मे उपेक्षणीय हो जाता है। अस्तु।

शृङ्गार के दो भेद हैं—संयोग और वियोग।

संयोग शृङ्गार—वहाँ होता है जहाँ नायक और नायिका की मिलन-अवस्था का वर्णन हो।

इसमें मिलन की अवस्था के कार्य परस्पर अवलोकन और संभाषण आदि का वर्णन होता है। स्पर्श, आलिङ्गन और चुम्बन का वर्णन अब पसन्द नहीं किया जाता। प्राचीन कवियों ने तो इन चेष्टाओं का नग्न चित्र खींचा है, वह समय वैसा ही था, समाज की रुचि वैसी ही रही होगी। अब समाज की रुचि बदल गई है, नग्न वर्णन को पसन्द नहीं किया जाता।

वियोग शृङ्गार—वहाँ होता है, जहाँ नायक और नायिका का परस्पर उत्कट अनुराग होने पर भी मिलन न हो।

इसमें वियोग से होने वाली चेष्टाओं का वर्णन होता है।

संयोग और वियोग के परस्पर विपरीत होने से इनके [illegible] और सञ्चारी भावों में अन्तर रहता है। नीचे आलम्बन आदि का वर्णन किया जाता है।

आलम्बन विभाव—नायक और नायिका।

उद्दीपन विभाव—आलम्बनगत—वेषभूषा, प्रेम से देखना [illegible] आदि। बाह्य—चन्द्रमा, चाँदनी रात, नदी का तट, वन,

उपवन, एकान्त स्थान, वसन्त का समय आदि। ये दोनों दशा में 'रति' भाव को उद्दीप्त करते हैं। 'रति' जितनी उद्दीप्त होगी संयोग में उतना अधिक आनन्द होगा और वियोग में उतना ही अधिक दुःख। 'प्रेम' भाव के अधिक उद्दीप्त होने पर मिलन का न होना दुःख का कारण है।

अनुभाव—प्रेम से देखना और मुसकराना आदि संयोग में और विवर्णता, अश्रु, प्रलय और स्तम्भ आदि वियोग में।

सञ्चारी—औत्सुक्य, हर्ष और लज्जा आदि संयोग में और जड़ता, ग्लानि और निर्वेद आदि वियोग में।

शृङ्गार में वर्णन की जाने वाली वियोग दशा—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण—ये सब गुणकथन को छोड़कर सञ्चारी ही हैं। गुण-कथन अनुभाव है।

अब इन दोनों के उदाहरण दिये जाते हैं—

संयोग शृङ्गार—

> कहुँ बाग तड़ाग तरंगिनि तीर तमाल की छाँह विलोकि भली,
> घटिका यक बैठत हैं सुख पाय बिछाय तहाँ कुस कास थली।
> मग को श्रम श्रीपति दूर करैं सिय को शुभ बाक्ल अंचल सों,
> श्रम तेऊ हरैं तिन को कहि 'केशव' चञ्चल चारु दृगञ्चल सों।

वन जाते हुए रामचन्द्र जी और सीता जी के परस्पर ... का सुन्दर वर्णन है। रामचन्द्र जी सुन्दर स्थान को देखकर ... के लिये बैठ जाते हैं (इस अभिप्राय से कि सीता थक गई हों और अपने वल्कल के अञ्चल से हवा कर सीता की थकावट दूर करते हैं। सीता जी प्रिय पति को ऐसा करने से मना करतं पर मुँह से नहीं कहती, बाँकी चितवन से देखकर। आँखों ...

कह देती हैं—यह आप क्या करते हैं ? इस मना करने मे अनुराग कितना गम्भीर है और उनके मना करने के सुन्दर प्रकार से ही रामचन्द्र जी की थकावट दूर हो जाती है। अनुराग का परस्पर विनिमय व्यङ्ग्य होने से अतिशय चमत्कारपूर्ण है।

यहाँ सीता के प्रेम के राम और राम के प्रेम की सीता आलम्बन हैं। बाग आदि उद्दीपन विभाव हैं। रामचन्द्र जी का वल्कल से हवा करना और सीता जी का प्रेम-भरी चितवन से देखना अनुभाव हैं। हर्ष सञ्चारी भाव है। पति और पत्नी का परस्पर-प्रेम स्थायी भाव है। अतः यह विभाव, अनुभाव और सञ्चारी से परिपुष्ट होकर सामाजिकों के हृदय मे वासना रूप से स्थित रति स्थायी भाव उद्बुद्ध हो संयोग शृङ्गार के रूप मे आस्वादित होता हुआ आनन्द देता है।

वियोग शृङ्गार—

उनका यह कुञ्ज-कुटीर वही
झड़ता उड़ अंशु अबीर जहाँ,
अलि, कोकिल, कीर, शिखी सब हैं
सुन चातक की रट 'पीव कहाँ ?'
अब भी सब साज समाज वही
तब भी सब आज अनाथ यहाँ,
सखि, जा पहुँचे सुध-संग कहीं
यह अन्ध सुगन्ध समीर वहाँ ?

—यशोधरा

सिद्धार्थ के वियोग में विह्वल यशोधरा की यह उक्ति है। यशोधरा का अपने प्रिय पति सिद्धार्थ के प्रति 'प्रेम' भाव है। अतः नायक सिद्धार्थ आलम्बन है। कुञ्ज-कुटीर, भौंरे, कोयल, तोता, मोर और चातक का 'पीव कहाँ' पुकारना उद्दीपन हैं। 'वही' पद के द्वारा

पक्षियों से उसका पता पूछने से 'उन्माद' सञ्चारी भी व्यङ्गय है, इसलिये विभाव, अनुभाव और सञ्चारियों से परिपुष्ट सामाजिक के हृदयों मे वासना रूप से स्थितप्रेम स्थायी भाव शृङ्गार रूप में आस्वादित होता है।

करुण रस

विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों से परिपुष्ट हो सामाजिकों के हृदय में वासना रूप से स्थित 'शोक' स्थायी भाव अभिव्यक्त होने पर 'करुण' रस कहा जाता है।

आलम्बन—मृत प्रिय जन और नाश को प्राप्त ऐश्वर्य मकान आदि।

उद्दीपन—उनके शव का दर्शन, चिता जलना, उससे सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं का दर्शन, उनकी चर्चा और अन्य रोते हुए बन्धुओं का दर्शन आदि।

अनुभाव—सिसकियाँ भरना, रोना, मृत व्यक्ति के गुणों तथा कार्यों का कथन, भाग्य की निन्दा और दैव की निर्दयता का कथन, स्तम्भ, पछाड़ खाकर गिरना, प्रलाप आदि।

सञ्चारी भाव—निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, चिन्ता, स्मृति, विषाद, जड़ता, उन्माद और दैन्य आदि।

वियोग शृङ्गार मे भी 'शोक' की कुछ दशाएँ होती हैं, परन्तु वहाँ मिलन की आशा के कारण उतनी तीव्रता नहीं रहती। यहाँ 'शोक' जनित दशाएँ बहुत तीव्र होती हैं, क्योंकि इसमे मिलन की आशा नहीं रहती।

उदाहरण—

'मेरे हृदय के हर्ष हा! अभिमन्यु, अब तू है कहाँ,
दृग खोल कर बेटा! तनिक तो देख हम सब को यहाँ।

मामा खड़े हैं पास तेरे, तू यहीं पर है पड़ा,
निज गुरु जनों के मान का तो ध्यान था तुझ को बड़ा।
व्याकुल तनिक भी देख कर तू धैर्य देता था मुझे,
पर आज मेरे पुत्र प्यारे! हो गया है क्या तुझे।
धात्री सुभद्रा को समझ कर माँ मुझे था जानता,
पर आज तू ऐसा हुआ मानों न था पहचानता।"

—जयद्रथवध

अभिमन्यु की मृत्यु पर यह द्रौपदी का विलाप है। द्रौपदी यहाँ शोक का आश्रय है। मृत अभिमन्यु आलम्बन है। उसका शव उद्दीपन है। रोना और विलाप करना अनुभाव हैं। आवेग, दैन्य, स्मरण और उन्माद सञ्चारी भाव हैं। इनके द्वारा सामाजिकों के हृदय में स्थित 'शोक' स्थायी भाव उद्बुद्ध होकर करुण रस बनता है।

कहीं कहीं शोक के आश्रय का वर्णन नहीं होता, वहाँ 'कवि' को ही आश्रय समझना चाहिये। कवि का हृदय किसी के शोकमय परिणाम पर भर आता है, उस अवस्था मे किया हुआ उसका वर्णन 'करुण' रस ही होगा। उसमें 'आश्रय' कवि को ही समझना पड़ेगा। भूकम्प के द्वारा नष्ट हुए कोयटे के वर्णन में 'करुण' रस ही समझा जायगा। इसी प्रकार दीन मजदूर आदि की करुण दशा के वर्णन में भी करुण रस होगा। 'करुण' जी की 'करुण-सतसई' के कई पद्यों में करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है।

उदाहरण—

छिन पौढ़ी छिन सिसु लखे, चदि नौ पोसा भौन।
टोवति गारा ईंट यह, सद्यप्रसूता कौन?

—करुण-सतसई

यह सद्यप्रसूता (जिसका अभी अभी प्रसव हुआ है) मजदूरिन का अत्यन्त कारुणिक वर्णन है। वेचारी का अभी प्रसव हुआ है, शरीर अतएव अशक्त है, पर दुर्भाग्यवश पेट के लिये ऐसी अवस्था मे भी मजदूरी करनी पड़ रही है। प्रेम के कारण वहीं साथ लाये हुए सद्योजात शिशु को क्षण भर देखती है फिर पेट की खातिर काम का ध्यान आता है, और पौड़ियाँ—जो नौ पुरुष-प्रमाण ऊँची हैं—चढ़ती है, शरीर मे बल न होने पर भी, वह भी ईंट और गारे की टोकरी सिर पर रखे हुए।

यहाँ 'शोक' का आश्रय स्वयं कवि है। आलम्बन सद्यप्रसूता मजदूरिन है। सद्यप्रसूता की अवस्था में उसका ईंट गारा ढोना और ऊँचे मकान पर चढ़ कभी पौड़ियों की ओर कभी बच्चे की ओर देखना उद्दीपन है। आश्रय मे प्रतीत होने वाले 'आँसू' आदि अनुभाव हैं। मोह और शङ्का आदि व्यङ्गय सञ्चारी भाव हैं। इनमे उद्बुद्ध होकर सहृदय सामाजिक के हृदय में वर्तमान शोक 'करुण' रस बन जाता है।

शान्त रस

विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त स्थायी भाव निर्वेद शान्त रस होता है।

आलम्बन—अनित्य और असार रूप से ज्ञात संसार।

उद्दीपन—वेदान्त-श्रवण, ऋषि मुनियों के पवित्र आश्रम बदरिकाश्रम आदि पवित्र तीर्थ स्थान, सिद्ध तथा वीतराग महात्माओं का सत्संग और उपदेश, शास्त्र-परिशीलन आदि।

अनुभाव—विषयों में अरुचि प्रकट करना, शत्रु और मित्र में सम भाव दिखाना, घर छोड़कर चले जाना आदि।

सञ्चारी—हर्ष, धैर्य, स्मृति, विबोध और मति आदि।

उदाहरण—

भाग रहा हूँ भार देख ?
तू मेरी ओर निहार देख,
मैं त्याग चला निस्सार देख।
अटकेगा मेरा कौन काम ?
ओ क्षणभङ्गुर भव ! राम राम।
प्रच्छन्न रोग हैं, प्रकट भोग,
संयोग मात्र भावी वियोग।
हा, लोभ मोह में लीन लोग।
भूले हैं अपना अपरिणाम।
ओ क्षणभङ्गुर भव ! राम राम।

—यशोधरा

यह सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण—घर से निकल जाने—का वर्णन है। जाते हुए सिद्धार्थ संसार को संबोधन करते हुए उसकी असारता का उल्लेख करता है और सदा के लिये उससे विदा लेता है।

यहाँ असार रूप से ज्ञात संसार आलम्बन है। उसकी क्षण-भंगुरता का बारंबार ध्यान आना उद्दीपन है। घर छोड़ने और इस प्रकार संसार को संबोधन करते हुए कहना अनुभाव हैं। 'भाग रहा हूँ भार देख' से व्यङ्ग्य वितर्क, 'अटकेगा मेरा कौन काम' से व्यङ्ग्य धैर्य, 'प्रच्छन्न रोग हैं, प्रकट भोग, संयोग मात्र भावी वियोग' से प्रतीयमान मति आदि सञ्चारी भाव हैं। निर्वेद स्थायी भाव का आश्रय सिद्धार्थ है।

यहाँ विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव से परिपुष्ट होकर सामाजिकों के हृदय में संस्कार रूप से वर्तमान निर्वेद स्थायी अभिव्यक्त होकर शान्त रस बनता है।

यशोधरा के समस्त 'महाभिनिष्क्रमण' प्रकरण में शान्त रस ही है। वहीं का एक उदाहरण और दिया जाता है—

उन विषयों से परितृप्ति ? हाय !
करते हैं हम उलटे उपाय।
खुजलाऊँ मैं क्या बैठ काय ?
हो जाय और भी प्रबल पाम।
ओ क्षणभङ्गुर भव ! राम राम।
यह जन्म मरण का भ्रमण भाण,
मैं देख चुका हूँ अपरिमाण
निर्वाण-हेतु मेरा प्रयाण,
क्या वात-वृष्टि, क्या शीत-घाम
ओ क्षण-भङ्गुर भव ! राम राम !

रौद्र रस

विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त सामाजिकों के हृदय में वासना रूप से स्थित क्रोध स्थायी भाव को रौद्र रस कहते हैं।

आलम्बन—अपराधी व्यक्ति शत्रु आदि। अपराध—धृष्टता करना, देशद्रोह, जातिद्रोह, दुराचार, कपटाचरण आदि अनेक प्रकार के होते हैं। इनको करने वाला व्यक्ति आलम्बन होगा।

उद्दीपन—उनके किये हुए अपराध, उनके कटु वचन, क्रोध को भड़काने वाली अन्य चेष्टाएँ—अकड़ना आदि।

अनुभाव—आँखों का लाल होना, ओठों का फड़कना, दाँत चबाना, भौंहों का तन जाना, अपराधी के लिये कटु वचनों का प्रयोग, अपने बल का वर्णन, शस्त्रों का उठाना, प्रहार करना, गर्जना, काँपना आदि।

सञ्चारी भाव—अमर्ष, गर्व, आवेग, उग्रता, स्मृति, चपलता और मोह आदि।

उदाहरण—

सुनत लखन के वचन कठोरा, परसु सुधारि धरेउ कर घोरा।
अब जनि देउ दोष मोहि लोगू, कटु-वादी बालक वध-जोगू॥
राम-वचन सुनि कछुक जुडाने, कहि कछु लखन बहुरि मुसकाने।
हँसत देखि नख सिख रिस व्यापी, राम! तोर भ्राता बड पापी॥

—रामचरितमानस

यहाँ परशुराम जी के क्रोध का आलम्बन लक्ष्मण है। उसका 'कहि कछु मुसकराना' उद्दीपन है। परशु को ठीक करके उठाना और 'राम तोर भ्राता बड़ पापी' आदि कठोर वचन अनुभाव हैं। 'कटु-वादी बालक वध-जोगू' के द्वारा व्यङ्ग्य 'उग्रता' 'नख-सिख रिस व्यापी' से व्यङ्ग्य चपलता और आवेग आदि तथा 'राम! तोर भ्राता बड पापी' से गम्य मोह रूप अविवेक सञ्चारी भाव हैं।

अतः इन विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से सामाजिकों के हृदयों मे स्थित क्रोध स्थायी का रौद्र रस के रूप में आस्वाद होता है।

दूसरा उदाहरण—

इस अकार्य में योग दिया भी होगा जिसने,
या सगर्व यह पाप किया भी होगा जिसने।
या जिसने यह देख लिया हर धनु का खण्डन,
अभी करूँगा, देर, उसी के हनु का खण्डन।
शठ, शीघ्र पता उसको अभी किसने धनु खण्डन किया।
तो परशुराम मैं हूँ नहीं, यदि उसको दण्ड न दिया।

—रामचरित उपाध्याय

परशुराम जी की इस उक्ति में रौद्र रस व्यङ्गय है। धनुष तोड़ने वाला अपराधी आलम्बन है। धनुष के टुकड़े देखना उद्दीपन है। यह गर्वोक्ति और आँखें लाल होना आदि जो यहाँ कहे तो नहीं गये, पर स्वतः प्रतीत हो जाते हैं—अनुभाव हैं। इस कथन से व्यङ्गय गर्व और 'शीघ्र बता उसको अभी' से व्यङ्गय आवेग सञ्चारी हैं।

वीर रस

सामाजिकों के हृदय में वासना रूप से स्थित 'उत्साह' स्थायी भाव जब काव्य में प्रदर्शित विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त होता है, तब 'वीर' रस होता है।

शत्रु से लड़ने मे, दीन की दुर्दशा देखकर उसके उद्धार के लिये दान करने, धर्म के आचरण, पाण्डित्य के प्रदर्शन, सत्य और कर्त्तव्य के पालन आदि अनेक विषयों मे यह उत्साह पैदा होता है। अतः विषय-भेद से उत्साह अनेक प्रकार का है। पर उनमे से चार प्रकार के उत्साह को स्थायी मानकर ही प्राचीनों ने वीर रस के चार भेद किये हैं—१ दया, २ दान, ३ धर्म और ४ युद्ध। इनके आलम्बन आदि भिन्न भिन्न होते हैं, अतः पृथक् पृथक् ही वे दिखाये जाते हैं।

१. दया-वीर—

आलम्बन—दीन, दुःखी, सङ्कट मे पड़ा हुआ व्यक्ति।

उद्दीपन—दुःखी का कराहना, विलाप, दीन वचन, दुष्टों का उनके साथ कठोर व्यवहार आदि।

अनुभाव—दुःखी के प्रति कोमल वचन बोलना, दुःख दूर करने के लिये प्रयत्न करना, जैसे—अन्धे को लाठी पकड़कर यथा-स्थान पहुँचा देना, भूखे को भोजन देना, पीड़ा से कराहते हुए को पानी पिलाना आदि।

सञ्चारी भाव—धैर्य, चपलता, मति आदि।

उत्तम प्रकृति के लोग पशु और पक्षियों पर भी दया करते हैं, अतः वे भी इसके आलम्बन होते हैं।

२. दान-वीर—

आलम्बन—दानपात्र, याचक आदि।

उद्दीपन—तीर्थस्थान, पर्वदिन, दानपात्र की उत्कृष्टता, दान की महिमा का श्रवण, आजकल चन्दे के लिये की गई ज़ोरदार अपील।

अनुभाव—दानपात्र और याचक का सम्मान और दान देना आदि।

सञ्चारी भाव—हर्ष, स्मरण, मति और धैर्य आदि।

३. धर्म-वीर—

आलम्बन—वेद आदि धर्म-ग्रन्थों में प्रतिपादित धर्म के प्रति पूर्ण निष्ठा।

उद्दीपन—धर्म-ग्रन्थों का पठन या श्रवण, गुरु के उपदेश, धर्मकार्य में प्राप्त साधुवाद, धर्म से च्युत करने के लिये विधर्मियों के द्वारा प्राप्त कष्ट आदि, जान दे देना।

सञ्चारी भाव—धैर्य, हर्ष, क्षमा, मति आदि।

४. युद्ध-वीर—

आलम्बन—विजेतव्य शत्रु।

उद्दीपन—शत्रु का युद्ध के लिये ललकारना, युद्ध के बाजे, विपक्षी के उत्कर्ष और प्रताप का श्रवण आदि।

अनुभाव—अङ्गों का फड़कना, अपने पराक्रम का कथन, आक्रमण, अस्त्र शस्त्रों का प्रहार आदि।

सञ्चारी भाव—अमर्ष, धृति, गर्व, स्मृति, हर्ष, औत्सुक्य, वितर्क आदि।

इनके अतिरिक्त 'कर्त्तव्यवीर' और 'सत्यवीर' आदि भी इसके अनेक भेद किये गये हैं। पर इनमें मुख्य 'युद्धवीर' ही है। 'वीर' शब्द प्राय: युद्धवीर के लिये प्रयुक्त होता है। 'वीरकाव्य' से 'युद्धवीर' वाले काव्य को ही समझा जाता है। अतः मुख्य होने से उसी का उदाहरण यहाँ दिया जाता है।

युद्धवीर का उदाहरण—

> करता हुआ वध वैरियों का वैर-शोधन के लिये,
> रण मध्य वह फिरने लगा अति दिव्य द्युति धारण किये।
> उस काल जिस जिस ओर वह संग्राम करने को गया,
> भगते हुए अरि-वृन्द से मैदान खाली हो गया।
> रथ-पथ कहीं भी रुद्ध उसकी दृष्टि में आया नहीं,
> सम्मुख हुआ जो वीर, वह मारा गया तत्क्षण वहीं॥
>
> —जयद्रथवध

यह वीर अभिमन्यु के चक्रव्यूह तोड़ने के समय का वर्णन है। अभिमन्यु का उत्साह यहाँ प्रधान रूप से व्यङ्ग्य है। शत्रु आलम्बन हैं। वैरियों का सामने आना उद्दीपन है। उनका वध करना, रणभूमि में रथ को बेरोक-टोक बढ़ाये लिये जाना अनुभाव हैं। 'अति-दिव्य-द्युति' से व्यङ्ग्य हर्ष और धैर्य आदि सञ्चारी भाव हैं।

भूषण, लाल और सूदन आदि प्राचीन कवियों की कविता में 'वीर रस' है। आधुनिक कवि वियोगी हरि जी ने वीर रस की सतसई ही रच डाली है। उन्होंने वीर का 'विरह-वीर' नाम से एक और भेद किया है। अनूप शर्मा की कविताएँ भी वीर-रसमय हैं। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' वीर रस की प्रसिद्ध कविता है।

रौद्र और वीर का अन्तर

यद्यपि स्थायी भाव के भेद से इनका अन्तर है ही, वीर का स्थायी उत्साह और रौद्र का क्रोध। परन्तु इतने ही से भेद स्पष्ट नहीं होता। किसी वर्णन को पढ़कर यह निर्णय करना सुगम नहीं कि यहाँ उत्साह व्यञ्जित है या क्रोध। इसके निर्णय का उपाय यह है कि अनुभावों को देखें, यदि वे विवेकपूर्ण हों तो समझना चाहिये कि यहाँ क्रोध नहीं, क्योंकि क्रोध मे विवेक नहीं रहता। ऐसे स्थल पर उत्साह को व्यङ्ग्य समझकर वीर रस मानना चाहिये। यदि विवेकशून्य कार्यों का वर्णन हो तो 'क्रोध' व्यङ्ग्य समझना चाहिये और अतएव रौद्र रस।

प्रकृत रौद्र के उदाहरण मे परशुराम का अविवेक और उग्रता स्पष्ट उसके इस कथन से मालूम पड़ती है कि 'जिसने धनुष तोड़ा, जिसने इस कार्य मे सहायता भी दी है और जिसने इस कार्य को होते देखा भी है—उन सब को मैं मार डालूँगा।' भला जिसने इस कार्य मे सहायता दी उसका तो दण्डनीय होना किसी सीमा तक संभव है, पर जो बेचारे वहाँ बैठे अनायास देख बैठे, उनका क्या अपराध! उनको मार डालने का विचार आवेग और उग्रता को व्यक्त करना है। इसलिये यहाँ 'क्रोध' है और अतएव 'रौद्र रस'। उपर्युक्त वीर के उदाहरण मे 'दीप्तद्युति' कहने से उत्साहजन्य हर्ष और धैर्य मालूम पड़ते हैं। 'क्रोध' के द्वारा मुख की दीप्ति नहीं बढ़ती। संग्राम-भूमि मे निर्भय विचरना भी धैर्य को सूचित करता है, जो 'वीर' में ही संभव है। इसके अतिरिक्त 'सन्मुख हुआ जो वीर, वह मारा गया तत्क्षण वहीं' मालूम पड़ता है कि सामने जो लड़ने को उद्यत हुआ, उसी उसने वार किया, भागते हुओं पर नहीं, उन भागते हुओं का

भी उसने नहीं किया। ये कार्य 'वीरता' के ही हैं। क्रोधान्ध मनुष्य इतना ध्यान नहीं रख सकता। वह तो परशुराम के समान अपराधी और निरपराधी का भेद कर ही नहीं सकता। इसी प्रकार रौद्र और वीर का अन्तर अन्यत्र भी समझना चाहिये।

अद्भुत

विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त 'विस्मय' स्थायी भाव अद्भुत रस कहा जाता है।

आलम्बन—अलौकिक व्यक्ति तथा वस्तु, विचित्र दृश्य।

उद्दीपन—उसके गुणों का वर्णन आदि।

अनुभाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गदस्वर, आंखे फाड़ कर देखते रहना, मुँह खुला रहना, दाँतों तले अँगुली दबाना, जीभ का मुँह से बाहर निकालना आदि।

सञ्चारी भाव—हर्ष, वितर्क, त्रास, मोह आदि।

इसमें केवल आलम्बन के वर्णन से भी काम चल जाता है। आश्रय और उसकी चेष्टाएँ रूप अनुभाव यहाँ प्रायः नहीं होते। यदि हों, तो अत्युत्तम, न हों तो कोई हानि भी नहीं।

उदाहरण—

अखिल भुवन चर अचर सब हरि मुख में लखि मातु।
चकित भई गद्गद वचन, विकसित दृग पुलकातु॥

—काव्य कल्पद्रुम

यशोदा ने जिस समय भगवान् कृष्ण के मुख में सारे भुवनों का दर्शन किया उस समय का यह वर्णन है।

यहाँ श्रीकृष्ण जी का मुख आलम्बन है। मुख में अखिल भुवनों का दिखाई पड़ना उद्दीपन है। आँखों का विकसित होना, गद्गद वचन और रोमाञ्च अनुभाव हैं। त्रास आदि सञ्चारी भाव हैं।

इसी प्रकार तुलसीदास जी ने भी रामायण में कौसल्या के बालक रामचन्द्र के वर्णन मे अद्भुत रस का समावेश किया है।

परमात्मा के कार्यों के प्रति विस्मय पैदा होना परमात्मा के प्रति अनुराग-भाव का पोषक होने से प्रधान रूप से अभिव्यक्त न होने के कारण 'अद्भुत रस' नहीं बन पाता।

हास्य

विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त 'हास' स्थायी भाव 'हास्य' रस कहा जाता है।

इसके आलम्बन आदि निम्नलिखित होते हैं—

आलम्बन—विकृत आकृति या वेष-भूषा वाला या विकृत वाणी बोलने वाला व्यक्ति, तथा विकृत रूप वाली वस्तु।

उद्दीपन—आलम्बन का विचित्र वेष, बातें और चेष्टाएँ आदि।

अनुभाव—आँखों का खिल जाना, ओठों का हिलना, दाँतों का दीखना, शरीर का हिलना, आँखों मे पानी आ जाना तथा हाथ पैर पटकना आदि।

सञ्चारी—चपलता, हर्ष, अवहित्थ और आलस्य आदि। अनुभावों-चेष्टाओं-के भेद से हास के ६ भेद हैं—

१. स्मित—में आँखें खिल जाती हैं और ओठ ज़रा ज़रा-सा हिलते हैं।

२. हसित—इसमे ज़रा दाँत भी दिखाई पड़ते हैं।

३. विहसित—इसमे थोड़ा थोड़ा मधुर शब्द भी होने लगता है।

४. अवहसित—शब्द होने के साथ शरीर भी कुछ हिलने लगता है।

हास्य रस में आश्रय—इस रस में आश्रय प्रायः नहीं रहता। इसकी चर्चा यहाँ पहले की जा चुकी है। अतएव आश्रय की चेष्टा रूप होने से अनुभावों का वर्णन इसमे प्रायः नहीं होता।

अब इसका उदाहरण दिया जाता है—

बाबू बनने का यार फ्रेश फारमूला सुनो,
कीजिये इकन्नी खर्च मूछ की मुड़ाई में।
लीजिये सेकण्ड हेण्ड सूट डेढ़ रुपये में,
डेमी रिस्ट वाच चार पैसे की कलाई में।
गूदड़ी बजार का हो बूट भी अधेली वाला,
करो पूरे खर्च आने तीन नेकटाई में।
अठन्नी मे हो कोट और चश्मा दुअन्नी में,
'मुरली' बनो न बाबू मुद्रिका अढाई मे।

यहाँ कवि महोदय जी ने ढाई रुपये में बाबू बनने का उपाय बताया है। आश्रय स्वयं कवि जी हैं, आलम्बन—यह ही है, उद्दीपन—इस उक्ति के कहते समय की चेष्टाएँ, मुस्। चेहरे का खिल जाना आदि—पूर्वोक्त छः प्रकार के हास में से के अनुसार किसी एक प्रकार की चेष्टाएँ। सञ्चारी—आवेग आदि प्रतीयमान। इनके संयोग से यहाँ हास स्थायी अभिव्यक्त होकर 'हास्य' रस के रूप मे आस्वादित होता है।

इस हास्य रस में बहुत स्थलों में आलम्बन 'हँसी की बात' ही रहती है। क्योंकि कवि का अभिप्राय किसी घटना या प्रथा आदि पर परिहास न केवल विनोदात्मक ही रहता है, अपितु व्यङ्गयात्मक भी। हरिशङ्कर शर्मा जी के 'चिड़ियाघर' मे व्यङ्गयात्मक हास्य रस है। हास्य के द्वारा वहाँ व्यङ्गय रूप से शिक्षा भी होती है। उत्तम परिहास को ही काव्य में 'रस' पदवी मिलती है, भद्दे परिहास

५. अपहसित—पूर्वोक्त चेष्टाओं के साथ इसमें आँखों में पानी भी आ जाता है।

६. अतिहसित—इसमें पूर्वोक्त सब चेष्टाएँ तो होती ही हैं। इनके अतिरिक्त हाथ पैर पटकना भी होने लगता है।

हँसने की चेष्टाएँ प्रकृति के भेद से भिन्न भिन्न होती हैं। उत्तम-प्रकृति के लोगों का हँसना–'स्मित' और 'हसित' होता है। मध्यम-प्रकृति वालों का 'विहसित' और 'अवहसित' तथा नीच-प्रकृति के लोगों का 'अपहसित' तथा 'अतिहसित'।

हास्य के आलम्बन

हास्य के आलम्बन प्राचीन समय से भोजन-भट्ट ब्राह्मण रहे हैं। अतः प्राचीन संस्कृत नाटकों में विदूषक—जो हास्य रस के आलम्बन के रूप में रखा जाता रहा है—भोजन-भट्ट ब्राह्मण ही मिलता है। हिन्दी कविता में पहले धन के लोभी कंजूस इसके आलम्बन बने और अब पुरानी रूढ़ियों के भक्त तथा कुछ वे बाबू लोग भी जो विदेशियों की वेष-भूषा की नकल करते हुए अपने को भद्दा बना लेते हैं। जहाँ जैसी प्रथा होती है उसके विपरीत आचरण करना वहाँ हँसी का कारण हो जाता है। आज-कल कालेजों के लड़के प्रायः चोटी नहीं रखते। अतः जब चोटी-धारी कोई छात्र कालेज में प्रवेश करता है तब वह उनकी हँसी का आलम्बन बन जाता है और आये दिन की फबतियों से तंग आकर वह श्रीमती चोटी देवी को तलाक दे देता है। एक बात और है, जिस विषय पर आज हँसी आती है, रुचि बदलने पर वह हँसी का आलम्बन नहीं रह जाता। बन्द गले के कोट के साथ पतलून पहनना प्रारम्भ में हँसी का कारण रहा, पर रुचि बदल जाने से अब वह सभ्य वेष में शामिल कर लिया गया है। अतः वह अब हँसी का आलम्बन नहीं रहा।

हास्य रस में आश्रय—इस रस में आश्रय प्रायः नहीं रहता। इसकी चर्चा यहाँ पहले की जा चुकी है। अतएव आश्रय की चेष्टा रूप होने से अनुभावों का वर्णन इसमे प्रायः नहीं होता।

अब इसका उदाहरण दिया जाता है—

बाबू बनने का यार फ्रेश फारमूला सुनो,
कीजिये इकन्नी खर्च मूछ की मुड़ाई में।
लीजिये सेकण्ड हैण्ड सूट डेढ़ रुपये में,
डेमी रिस्ट वाच चार पैसे की कलाई में।
गूदड़ी बजार का हो बूट भी अधेली-वाला,
करो पूरे खर्च आने तीन नेकटाई में।
अठन्नी में हो कोट और चश्मा दुअन्नी में,
'मुरली' बनो न बाबू मुद्रिका अढ़ाई मे?

यहाँ कवि महोदय जी ने ढाई रुपये में बाबू बनने का अचूक उपाय बताया है। आश्रय स्वयं कवि जी हैं, आलम्बन—यह उक्ति ही है, उद्दीपन—इस उक्ति के कहते समय की चेष्टाएँ, अनुभाव—चेहरे का खिल जाना आदि—पूर्वोक्त छः प्रकार के हास में से प्रकृति के अनुसार किसी एक प्रकार की चेष्टाएँ। सञ्चारी—आवेग आदि प्रतीयमान। इनके संयोग से यहाँ हास स्थायी अभिव्यक्त होकर 'हास्य' रस के रूप में आस्वादित होता है।

इस हास्य रस में बहुत स्थलों मे आलम्बन 'हँसी की बात' ही रहती है। क्योंकि कवि का अभिप्राय किसी घटना या प्रथा आदि पर परिहास न केवल विनोदात्मक ही रहता है, अपितु व्यङ्गयात्मक भी। हरिशङ्कर शर्मा जी के 'चिड़ियाघर' में व्यङ्गयात्मक हास्य रस है। हास्य के द्वारा वहाँ व्यङ्गय रूप से शिक्षा भी होती है। उत्तम परिहास को ही काव्य मे 'रस' पदवी मिलती है, भद्दे परिहास

को नहीं, जिसमें अश्लीलता भरी हो, शिष्ट समाज के अनुकूल न होने से ऐसे परिहास सर्वथा त्याज्य हैं।

भयानक रस

विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त सामाजिकों के हृदय में स्थित 'भय' स्थायी भाव को 'भयानक' रस कहते हैं।

आलम्बन—भयानक व्यक्ति या वस्तु जिससे भय उत्पन्न हो—सिंह आदि जन्तु, आग, नदी की बाढ़, चोर, डाकू आदि।

उद्दीपन—भयानक व्यक्तियों की चेष्टाएँ, जैसे—सिंह की दहाड, हाथी की चिंघाड, साथी का न होना, अन्य लोगों का भयत्रस्त दशा में भागना आदि, नदी की बाढ मे ऊँची ऊँची लहरों का उठना, बड़े बड़े पेड़ों का बहना, आग लगने मे ऊँची लपटें आदि।

अनुभाव—काँपना, पसीना आना, रोंगटे खड़े होना, गद्गद् स्वर से बोलना, चेहरे का रँग उड जाना, भागना, मूर्च्छित हो जाना आदि।

सञ्चारी भाव—त्रास, शङ्का, ग्लानि, दैन्य, आवेग, चिन्ता, जड़ता, मोह, मरण आदि।

उदाहरण—

उन्हें वहाँ से दिखला पड़ा वही, भयावना गर्त दुरन्त काल सा।
वहाँ छुपा निष्ठुरता समेत जो निवासता वन्य प्रभूत जन्तु था।
पला रहे थे उसको विलोक के, असंख्य प्राणी वन के इतस्ततः।
गिरे हुए थे महि में अचेत हो समीप के गोप सधेनु-मण्डली।

—प्रियप्रवास

यहाँ भय का आलम्बन सर्प है। गोप और गाय आश्रय हैं। इसकी निष्ठुरता, भयङ्करता उद्दीपन है। भागना और प्रलय

अनुभाव हैं। इतस्ततः पलायन से व्यङ्ग्य आवेग, त्रास और मोह आदि सञ्चारी भाव हैं। इनके द्वारा 'भय' स्थायी अभिव्यक्त होकर 'भयानक' रस बनता है।

वीभत्स

विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त 'जुगुप्सा' स्थायी भाव को वीभत्स रस कहते हैं।

आलम्बन—घृणाजनक वस्तु, श्मशान, मुर्दा, कसाईखाना, माँस वाला बाजार, दुर्गन्ध वाले पदार्थ आदि।

उद्दीपन—दुर्गन्ध, कीड़े पड़ जाना, मक्खियों का भिन-भिनाना, कुत्ते आदि का नोचना खसोटना आदि।

अनुभाव—नाक सिकोड़ना या बन्द करना, थूकना, उधर से मुँह फेरना, रोमाञ्च होना, छी छी शब्द कहना।

सञ्चारी भाव—आवेग, व्याधि, मोह, मूर्च्छा आदि।

उदाहरण—

कहूँ धूम उठत बरति कतहूँ है चिता,
कहूँ होत रोर कहूँ अरथी धरी अहै।
कहूँ हाड़ परो कहूँ जरो अध जरो बाँस,
कहूँ गीध-भीर मास नोचत अरी अहै।
'हरिऔध' कहूँ काक कूकर हैं शव खात,
कतहूँ मसान में छछूँदरी मरी अहै।
कहूँ जरी लकरी कहूँ है सरी-गरी खाल,
कहूँ भूरि धूरि-भरी खोपरी परी अहै।

—रस-कलस

यहाँ श्मशान आलम्बन है। अरथी, हड्डी, माँस का नोचना, कौवे और कुत्तों का मुर्दा खाना आदि उद्दीपन हैं। आवेग, मोह आदि सञ्चारी व्यङ्ग्य हैं।

इस रस में प्रायः आश्रय का वर्णन नहीं होता। अतएव कवि को ही मान लिया जाता है। उनकी चेष्टाएँ नाक भौं सिकोड़ना आदि भी आक्षेप से ले ली जाती हैं।

भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' में और बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर के 'श्मशान-वर्णन' में वीभत्स रस है।

वत्सल रस

विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त 'वात्सल्य' स्थायी भाव को 'वत्सल' रस कहते हैं।

आलम्बन—बालक या शिशु।

उद्दीपन—उनकी चेष्टाएँ—तोतली बोली, गिरते पड़ते चलना, घुटनों के बल चलना, हठ करना और खेलना कूदना आदि। तथा—विद्या, शूरता आदि।

अनुभाव—हँसना, पुलकित होना, टकटकी लगाये देखना, गोद में लेना, चूमना, पालने में झुलाना, उसके साथ वैसे ही बन जाना आदि।

सञ्चारी भाव—हर्ष, औत्सुक्य आदि संयोग-अवस्था में और चिन्ता, शङ्का, जड़ता, मोह, विषाद आदि वियोग-दशा में।

उदाहरण—

[illegible]

—[illegible]

राहुल के दाँत निकल आये हैं, यशोधरा उन पर मोती वार देती है—इतने हैं वे सुन्दर, क्यों भला ! गोपा ने राहुल को जो दूध अपने हृदय का पिलाया है, वही तो जमकर दाँत बन गये । गोपा का स्नेह ही तो राहुल को इतना विकसित कर सका कि उसके मुख में मोती उग आये । चाल उसकी अटपटी है, पर अटपटी भी यह चाल मातृ-हृदय के स्नेह-सागर को उद्वेलित करने मे कितनी सक्षम है । कैसा अनुपम प्यार है ? तुम मेरी अँगुली पकड़ो या मैं तेरी अँगुली पकड़ूँ ।

इस पद्य मे 'वात्सल्य' स्थायी भाव की पूर्णरूप से व्यञ्जना हुई है । यशोधरा आश्रय है और राहुल आलम्बन । उसके सुन्दर दाँत, अटपटी चाल आदि उद्दीपन हैं । इस प्रकार का कथन और पुलक आदि अनुभाव हैं 'इन दाँतों पर मोती वारूँ' से व्यञ्जित हर्ष सञ्चारी है । अतः विभाव, अनुभाव और सञ्चारी के संयोग से अभिव्यक्त सामाजिकों के हृदयों में वासनारूप से स्थित 'वात्सल्य' स्थायी भाव रस-रूप में आस्वादित होता है ।

अन्य उदाहरण—

मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी ।
नन्दनवन सी फूल उठी वह, छोटी सी कुटिया मेरी ।
'माँ, ओ' कहकर बुला रही थी, मिट्टी खाकर आई थी ।
कुछ मुँह में कुछ लिए हाथ में, मुझे खिलाने आई थी ।
पुलक रहे थे अँग, दृगों में, कौतूहल था छलक रहा ।
मुख पर थी आह्लाद-लालिमा, विजय-गर्व था झलक रहा ।
मैं ने पूछा—'यह क्या लाई ?', बोल उठी वह—'माँ, काओ' ।
हुआ प्रफुल्लित हृदय खुशी से, मैंने कहा—'तुम्हीं, खाओ ।'

—सुभद्राकुमारी चौहान

यहाँ छोटी बालिका आलम्बन है। उसका माता के लिये मिट्टी लाना और 'माँ, काओ' ये तोतले शब्द कहना उद्दीपन है। पुलकन, चेहरे का खिल जाना आदि अनुभाव हैं। हर्ष यहाँ सञ्चारी है।

इसका 'वियोग' पक्ष भी है। बालक के वियोग में भी वत्सल रस का परिपाक होता है। अयोध्यासिंह उपाध्याय जी के प्रिय-प्रवास में की 'प्रिय पति वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है ?' आदि कविता में यशोदा के विलाप में वियोग-पक्ष का ही वात्सल्य है।

'वत्सल' रस के सिद्ध कवि महात्मा सूरदास हैं। इन्होंने कृष्ण की बाल-छवि का बहुत सरस वर्णन किया है। तुलसीदास जी ने भी रामचन्द्र जी के 'बाल्य' काल के वर्णन में वत्सल रस का अच्छा चित्र खींचा है।

रसों का परस्पर विरोध

नीचे लिखे अनुसार रसों का परस्पर विरोध है—

१. शृङ्गार का करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक से।
२. हास्य का भयानक और करुण से।
३. करुण का हास्य और शृङ्गार से।
४. रौद्र का शृङ्गार, हास्य और भयानक से।
५. वीर का भयानक और शान्त से।
६. भयानक का शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त से।
७. बीभत्स का शृङ्गार से।
८. शान्त का वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानक से।

यह विरोध तीन प्रकार का है—

१. आलम्बन-विरोध, २. आश्रय-विरोध, ३. नैरन्तर्य-विरोध।

१. आलम्बन-विरोध—एक आलम्बन के विषय में न हो सकना आलम्बन-विरोध होता है। वीर और शृङ्गार का आलम्बन

विरोध है। ये दोनों एक ही आलम्बन के विषय में नहीं हो
जिस नायक या नायिका को आलम्बन शृङ्गार करता है, उसे
रस नहीं। इसी प्रकार हास्य, रौद्र और वीभत्स के जो आलम्बन
वे शृङ्गार के नहीं होते तथा वीर, करुण और भयानक के
वियोग शृङ्गार के नहीं। अतः आलम्बन-विरोध होने से ये
परस्पर विरोधी हैं।

२. आश्रय-विरोध—रसो का एक आश्रय मे न हो
आश्रय-विरोध होता है। वीर और भयानक का विरोध
विरोध है। जो वीर होगा उसमें भय कैसे हो सकता है और
होगा उसमे वीरता हो ही नहीं सकती। वीरता और भय दोनों
आश्रय में नहीं रहते। अतः वीर और भयानक आश्रय-विरोधी

३. नैरन्तर्य-विरोध—रसों का बिना व्यवधान न
सकना नैरन्तर्य-विरोध होता है। शृङ्गार के समनन्तर शान्त
नहीं हो सकता। अतः इनका विरोध इसी प्रकार का है। शान्त
बाद शृङ्गार या शृङ्गार के बाद शान्त का अव्यवधान से आना हो
ही नहीं सकता, अस्वाभाविक-सा है।

पूर्वोक्त रसों का विरोध इन तीनों प्रकारों में से किसी एक
प्रकार का होता है।

विरोध-परिहार का उपाय

जिस रस का जिस रस के साथ जैसा विरोध है, उसे उससे
भिन्न प्रकार से हटाया जा सकता है। जैसे शृङ्गार और शान्त का
विरोध है नैरन्तर्य का, अर्थात् ये दोनों ठीक एक दूसरे के पीछे
नहीं आ सकते। इनके विरोध को हटाने के लिये बीच में अन्य
किसी रस का—जो दोनों से विरोध न रखता हो—सन्निवेश कर
देना चाहिये। वीर और भयानक का आश्रय-विरोध है। उन्हें भिन्न

यहाँ छोटी बालिका आलम्बन है। उसका माता के लि
लाना और 'माँ, काओ' ये तोतले शब्द कहना उद्दीपन है। पु
चेहरे का खिल जाना आदि अनुभाव हैं। हर्ष यहाँ सञ्चारी है

इसका 'वियोग' पक्ष भी है। बालक के वियोग में भी व
रस का परिपाक होता है। अयोध्यासिंह उपाध्याय जी के प्रिय-
मे की 'प्रिय पति वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है ?' आदि कवित
यशोदा के विलाप मे वियोग-पक्ष का ही वात्सल्य है।

'वत्सल' रस के सिद्ध कवि महात्मा सूरदास हैं। इन
कृष्ण की बाल-छवि का बहुत सरस वर्णन किया है। तुलसीदास
ने भी रामचन्द्र जी के 'बाल्य' काल के वर्णन में वत्सल रस
अच्छा चित्र खींचा है।

रसों का परस्पर विरोध

नीचे लिखे अनुसार रसों का परस्पर विरोध है—

१. शृङ्गार का करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक से।
२. हास्य का भयानक और करुण से।
३. करुण का हास्य और शृङ्गार से।
४ रौद्र का शृङ्गार, हास्य और भयानक से।
५. वीर का भयानक और शान्त से।
६. भयानक का शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त से।
७. वीभत्स का शृङ्गार से।
८. शान्त का वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानक से।

यह विरोध तीन प्रकार का है—

१. आलम्बन-विरोध, २. आश्रय-विरोध, ३. नैरन्तर्य-विरोध।

१. आलम्बन-विरोध—एक आलम्बन के विषय में न हो सकना आलम्बन-विरोध होता है। वीर और शृङ्गार का आलम्बन

यहाँ कवि-हृदय में वर्तमान भगवान् राम के प्रति 'प्रेम' भाव प्रधान रूप से व्यञ्जित हुआ है, अतः 'भाव-ध्वनि' है।

देश-प्रेम—

हो तुम प्राची-रवि-रश्मि-माल,
हे विश्ववन्द्य भारत विशाल,
हे गुण-गण के गौरव-गणेश !
हे सुरपुर के वैभव अशेष !
हे सप्तसिन्धु-सेवित विशेष !
आचार्य जगत के आर्य देश !
हो जगत्-प्राण तुम प्रणत-पाल,
हे विश्ववन्द्य भारत विशाल।

—कादम्बिनी

यहाँ 'भारत' देश के प्रति प्रेम-भाव प्रधान रूप से व्यङ्ग्य है। अतः भाव-ध्वनि है।

गङ्गा-प्रेम—

आयौ जौन तेरी धौरी धारा में धसत जात
तिन को न होत सुरपुर तें निपात है।
कहै 'पद्माकर' तिहारो नाम जाके मुख,
ताके मुख अमृत को पुंज सरसात है।
तेरो तोय छ्वै कै छुवति तन जाको बात,
तिनकी चलै न जमलोकन में बात है।
जहाँ जहाँ मैया ! तेरी धूरि उड़ि जात है गङ्गा,
तहाँ तहाँ पापन की धूरि उड़ि जात है॥

यहाँ कवि का गङ्गा के प्रति प्रेम-भाव प्रधान रूप से व्यञ्जित होने के कारण 'भाव-ध्वनि' है।

भिन्न आश्रय में कर देने से विरोध नहीं रहता, नायक में वीर और प्रतिनायक में भयानक की सङ्गति हो जाती है। इसी प्रकार इन रसों का पारस्परिक विरोध दूर करना चाहिये।

अविरोधी रस

कुछ रस ऐसे भी हैं जिनका परस्पर कोई विरोध नहीं। वीर का अद्भुत और रौद्र के साथ उक्त तीनों प्रकार का विरोध नहीं। शृङ्गार का अद्भुत के साथ, भयानक का वीभत्स के साथ और शृङ्गार का हास्य के साथ किसी प्रकार का विरोध नहीं।

वीभत्स-रस शान्त-रस का बड़ा सहायक है।

रसात्मक उक्ति के प्रकार

रसात्मक उक्ति के ८ प्रकार हैं—१. रस, २. भाव, ३. रसाभास, ४. भावाभास, ५. भावोदय, ६. भावशान्ति, ७. भावसन्धि, ८. भावशबलता।

इनमें रस का निरूपण हो चुका। अब शेष का क्रम से निरूपण किया जाता है।

भाव-ध्वनि

जब देवता, गुरु, माता पिता, देश और पूज्य पुरुष आदि के विषय में प्रेम भाव अथवा निर्वेद आदि में से कोई भाव प्रधान रूप से व्यंजित हो, तब 'भाव-ध्वनि' कही जाती है।

इनमें भी आलम्बन आदि होते हैं। वे निश्चित से हैं। अत उनका उल्लेख न कर यहाँ कुछ भावों के उदाहरण दिये जाते हैं—

देवता-विषयक प्रेम—

राम, तुम्हारे इसी धाम में, नाम-रूप-गुण-लीला-लाभ
इसी देश में हमें जन्म दो, लो प्रणाम हे नीरजनाभ।

—यशोधरा

यहाँ कवि-हृदय मे वर्तमान भगवान् राम के प्रति 'प्रेम' भाव प्रधान रूप से व्यञ्जित हुआ है, अतः 'भाव-ध्वनि' है।

देश-प्रेम—

हो तुम प्राची-रवि-रश्मि-माल,
हे विश्ववन्द्य भारत विशाल,
हे गुण-गण के गौरव-गणेश!
हे सुरपुर के वैभव अशेष!
हे सप्तसिन्धु-सेवित विशेष!
आचार्य जगत के आर्य देश!
हो जगत्-प्राण तुम प्रणत-पाल,
हे विश्ववन्द्य भारत विशाल।

—कादम्बिनी

यहाँ 'भारत' देश के प्रति प्रेम-भाव प्रधान रूप से व्यङ्गय है। अतः भाव-ध्वनि है।

गङ्गा-प्रेम—

आयौ जौन तेरी धौरी धारा में धसत जात
तिन को न होत सुरपुर तें निपात है।
कहै 'पद्माकर' तिहारो नाम जाके मुख,
ताके मुख अमृत को पुंज सरसात है।
तेरो तोय छ्वै के छुवति तन जाको बात,
तिनकी चलै न जमलोकन में बात है।
जहाँ जहाँ मैया! तेरी धूरि उड़ि जात है गङ्गा,
तहाँ तहाँ पापन की धूरि उड़ि जात है॥

यहाँ कवि का गङ्गा के प्रति प्रेम-भाव प्रधान रूप से व्यञ्जित होने के कारण 'भाव-ध्वनि' है।

पद्माकर की 'गङ्गा-लहरी' में जहाँ से यह पद्य उद्धृत किया है 'भाव-ध्वनि' है।

भक्त कवियों की कविताएँ जिनमें उन्होंने अपने इष्टदेव के गुण गाये हैं—सब 'भाव-ध्वनि' के उदाहरण हैं।

तुलसी और सूर की विनयपत्रिका भी, अतएव, भाव-ध्वनि के उदाहरण हैं।

इसी प्रकार अन्य प्रकार के प्रेम-भाव के प्रधान रूप से व्यञ्जित होने पर भाव-ध्वनि कही जायगी।

अब निर्वेद आदि भावों के प्रधान रूप से व्यञ्जित होने पर जो भाव-ध्वनि होती है। उसके दो एक उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

वितर्क भाव—

घूम रहा है कैसा चक्र।
वह नवनीत कहाँ जाता है, रह जाता है तक्र।
कैसे परित्राण हम पावें, किन देवों को रोवें-गावें,
पहले अपना कुशल मनावें, वे सारे सुर शक्र!
घूम रहा है कैसा चक्र।

—यशोधरा

यहाँ सिद्धार्थ का वितर्क इस काल-चक्र के विषय में प्रधान रूप से व्यञ्जित है, अतः यहाँ 'वितर्क' भाव की ध्वनि हुई।

विषाद भाव—

यहाँ सिद्धार्थ के विना बताये छोड़कर चले जाने पर यशोधरा के हृदय में अत्यन्त विषाद हुआ है, वही विषाद भाव यहाँ प्रधान रूप से व्यञ्जित है। अतः 'विषाद भाव' की ध्वनि है। 'सखि, वे मुझ से कह कर जाते' इस पंक्ति का सब पद्यों के साथ सम्बन्ध होने से इस सम्पूर्ण प्रकरण से विषाद ध्वनित होता है।

चपलता भाव—

देखन नगर भूप-सुत आये। समाचार पुरवासिन पाये।
धाये धाम काम सब त्यागे। मनहुँ रङ्क निधि लूटन लागे।

—रामचरितमानस

जब राम और लक्ष्मण जनक के यहाँ विश्वामित्र जी के साथ पहुँचे, तब उन्हें नगर देखने की इच्छा हुई। और विश्वामित्र जी से आज्ञा ले वे नगर देखने निकले, उस समय नगर-निवासी उनके दर्शनों के लिये काम-धाम सब छोड़कर दौड़ पड़े।

यहाँ 'चपलता' भाव प्रधान रूप से व्यञ्जित है।

औत्सुक्य भाव—

चितवत चकित चहूँ दिसि सीता,
कहँ गये नृप-किसोर मन-चीता?

—रामचरितमानस

यहाँ वाटिका में घूमते हुए राम और लक्ष्मण को सीता जी का छिपकर देखना और आँखों से ओझल होने पर चकित होकर—कि अभी तो यहाँ थे, अभी अभी कहाँ चले गये—चारों ओर ढूँढने से 'औत्सुक्य भाव' प्रधान रूप से व्यञ्जित है। 'प्रेम-भाव' यहाँ व्यङ्ग्य नहीं, अभी तो राम और लक्ष्मण के विलक्षण सौन्दर्य देखने की उत्सुकता ही है, प्रेम भाव मानने पर 'लक्ष्मण' के प्रति भी उसकी प्रतीति होने से अनौचित्य के कारण यह 'रसाभास' हो जायगा।

पद्माकर की गङ्गा-लहरी' में जहाँ से यह पद्य उद्धृत किया है 'भाव-ध्वनि' है।

भक्त कवियों की कविताएँ जिनमें उन्होंने अपने इष्टदेव के गुण गाये हैं—सब 'भाव-ध्वनि' के उदाहरण हैं।

तुलसी और सूर की विनयपत्रिका भी, अतएव, भाव-ध्वनि के उदाहरण हैं।

इसी प्रकार अन्य प्रकार के प्रेम-भाव के प्रधान रूप से व्यञ्जित होने पर भाव-ध्वनि कही जायगी।

अब निर्वेद आदि भावों के प्रधान रूप से व्यञ्जित होने पर जो भाव-ध्वनि होती है। उसके दो एक उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

वितर्क भाव—

> घूम रहा है कैसा चक्र।
> यह नवनीत कहाँ जाता है, रह जाता है तक्र।
> कैसे परित्राण हम पावें, किन देवों को रोवें गावें,
> पहले अपना कुशल मनावें, वे सारे सुर शक्र।
> घूम रहा है कैसा चक्र।
>
> —यशोधरा

यहाँ सिद्धार्थ का वितर्क इस काल-चक्र के विषय में प्रधान रूप से व्यङ्ग्य है, अतः यहाँ 'वितर्क' भाव की ध्वनि हुई।

विषाद भाव—

> सखि, वे मुझ से कहकर जाते।
> मुझ को बहुत उन्होंने माना,
> फिर भी क्या पूरा पहचाना?
> मैंने मुख्य उसी को जाना,
> जो वे मन में लाते।
> सखि, वे मुझ से कहकर जाते। —यशोधरा

यहाँ सिद्धार्थ के बिना बताये छोड़कर चले जाने पर यशोधरा के हृदय में अत्यन्त विषाद हुआ है, वही विषाद भाव यहाँ प्रधान रूप से व्यञ्जित है। अतः 'विषाद भाव' की ध्वनि है। 'सखि, वे मुझ से कह कर जाते' इस पंक्ति का सब पद्यों के साथ सम्बन्ध होने से इस सम्पूर्ण प्रकरण से विषाद ध्वनित होता है।

चपलता भाव—

देखन नगर भूप-सुत आये। समाचार पुरवासिन पाये।
धाये धाम काम सब त्यागे। मनहुँ रङ्क निधि लूटन लागे।

—रामचरितमानस

जब राम और लक्ष्मण जनक के यहाँ विश्वामित्र जी के साथ पहुँचे, तब उन्हें नगर देखने की इच्छा हुई। और विश्वामित्र जी से आज्ञा ले वे नगर देखने निकले, उस समय नगर-निवासी उनके दर्शनों के लिये काम-धाम सब छोड़कर दौड़ पड़े।

यहाँ 'चपलता' भाव प्रधान रूप से व्यञ्जित है।

औत्सुक्य-भाव—

चितवत चकित चहूँ दिसि सीता,
कहँ गये नृप-किसोर मन-चीता?

—रामचरितमानस

यहाँ वाटिका में घूमते हुए राम और लक्ष्मण को सीता जी का छिपकर देखना और आँखों से ओझल होने पर चकित होकर—कि अभी तो यहाँ थे, अभी अभी कहाँ चले गये—चारों ओर ढूँढने से 'औत्सुक्य भाव' प्रधान रूप से व्यञ्जित है। 'प्रेम-भाव' यहाँ व्यङ्ग्य नहीं, अभी तो राम और लक्ष्मण के विलक्षण सौन्दर्य देखने की उत्सुकता ही है, प्रेम भाव मानने पर 'लक्ष्मण' के प्रति भी उसकी प्रतीति होने से अनौचित्य के कारण यह 'रसाभास' हो जायगा।

इसी प्रकार अन्य भावों की भी प्रधानता होती है।
में उन उन स्थलों में उन्हें समझ लेना चाहिये।

रस की अपेक्षा भावों की प्रधानता के स्थल में कम
हो ऐसी बात नहीं। भावपूर्ण कविताएँ भी उसी प्रकार
होती हैं, जैसी रसमय कविताएँ। आजकल की कविताएँ,
जो सिद्ध कवियों के हृदय से निकली हैं—भावपूर्ण हैं और
आनन्द उनसे सहृदयों को प्राप्त होता है।

रसाभास और भावाभास

जब रस और भावों के वर्णन में अनौचित्य
तब वे रसाभास और भावाभास कहे जाते हैं।

इस दशा में वे शुद्ध रस और भाव नहीं रह जाते।
अनुभाव और स्थायी भावों के संयोग में स्थायी भावों के
होने पर भी रस-भङ्ग के प्रधान कारण अनौचित्य के
वे रस और भाव कोटि से गिर जाते हैं और तब इनके
अनुभव में तदनुरूप अलौकिक आनन्द के जैसा आनन्द
नहीं होता है। अतएव अनौचित्य के हटाने का पूर्ण प्रयत्न
भावों के प्रसङ्ग में करना चाहिये।

अनुचित होगा। इसी प्रकार नीच पुरुषों में धैर्य, मति आदि और उत्तम-प्रकृति पुरुषों में दैन्य, जड़ता, उन्माद और आलस्य आदि अनुचित होंगे। ऐसे स्थलों पर भावाभास होगा।

भावोदय

जहाँ पूर्व स्थित किसी अन्य भाव के शान्त होने पर किसी अन्य भाव के उत्पन्न होने का वर्णन हो, वहाँ 'भावोदय' होता है।

उदाहरण—

विहग-समान यदि अम्ब, पंख पाता मैं,
एक ही उड़ान में तो ऊँचे चढ़ जाता मैं।
मण्डल बनाकर मैं घूमता गगन में,
और देख लेता पिता बैठे किस वन में।
कहता मैं—'तात, उठो, घर चलो अब तो',
चौंक कर अम्ब, मुझे देखते वे तब तो।
कहते 'तू कौन है ?' तो नाम बतलाता मैं,
और सीधा मार्ग दिखा शीघ्र उन्हें लाता मैं।
मेरी बात मानते हैं मान्य पितामह भी,
मानते अवश्य उन्हें टालते न यह भी।
किन्तु बिना पंखों के विचार सब रीते हैं,
हाय, पक्षियों से भी मनुष्य गये बीते हैं।

—यशोधरा

यहाँ राहुल के हृदय में पिता के मिलन के—जो कि उसने कल्पना में कर लिया था—हर्ष भाव की शान्ति हुई, यह विचार आने पर कि उड़ूँगा कैसे, मेरे पंख हैं ही नहीं। इसके द्वारा 'विषाद' भाव का उदय हुआ।

भाव-शान्ति

जहाँ पहले से वर्तमान भाव की शान्ति हो वहाँ 'भाव-शान्ति' होती है।

'भावोदय' के पूर्वोक्त उदाहरण में पहले विद्यमान 'हर्ष' रूप भाव की शान्ति हुई है।

दूसरा उदाहरण—

भामिनि अजहुँ न तजसि तू, रिस उनई घनपाँति।
गयो सुतनु-दृग-कोन-रँग, सुनि प्रिय वच इहि भाँति॥

यहाँ 'दृग-कोन-रंग' से व्यङ्ग्य 'अमर्ष' भाव की प्रिय के कोमल वचनों से शान्ति हो जाने से 'भाव-शान्ति' हुई।

भाव-सन्धि

जहाँ दो भावों की एक साथ समान रूप से स्थिति हो वहाँ 'भाव-सन्धि' होती है।

उदाहरण—

उनको देख, कम्पयुत धारण किये स्वेद के बूँद अनेक,
चलने के निमित्त ऊपर ही लिये हुए पद अपना एक।
शैल-मार्ग में आ जाने से आकुल सरिता-तुल्य नितान्त,
पर्वत सुता न चली, न ठहरी, हुई चित्र खेंची सी भ्रान्त॥

—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी

भगवती पार्वती 'शिव' जी के प्रति अनन्य अनुराग होने से उन्हें प्राप्त करने के लिये घोर तप कर रही थी। उससे प्रसन्न हो भगवान् स्वयं उसके पास ब्रह्मचारी वेष में आये और परीक्षा लेने के लिये 'शिव' की निन्दा करने लगे। भगवती पार्वती इससे अत्यन्त रुष्ट होकर वहाँ से जाने लगी। तब भगवान् शङ्कर ने पार्वती का अपने प्रति अनन्य अनुराग देख प्रसन्न हो अपना रूप प्रकट

किया। अपने उपास्य देव को सामने देखकर भगवती पार्वती के शरीर में पसीने के साथ कँपकँपी पैदा हो गई और आगे जाने के लिये उठाया हुआ पैर उठाया ही रह गया, न वह जा सकी और न ठहर सकी।

यहाँ कम्प और स्वेद अनुभाव से गम्य पार्वती का अनुराग है। पर विशेष चमत्कार है भाव-सन्धि में। यहाँ दो भावों—औत्सुक्य और लज्जा—की सन्धि है। दोनों भाव गम्य हैं 'न चली—न जा सकी' से उत्सुकता व्यञ्जित होती है। जाय कैसे, जिसके लिये इतना तप किया उसे सामने पाकर कैसे जाय, कितनी उत्सुकता प्रकट होती है और 'न ठहर सकी' से लज्जा भाव को किस खूबी से व्यञ्जित किया है। दोनों भाव साथ साथ हैं इसी लिये तो न जा सक रही है और न ठहर सक रही है।

भावों के व्यङ्ग्य रहने में चमत्कार है। 'हरष विषाद हृदय अकुलानी' में भाव व्यङ्ग्य नहीं हैं अतएव 'भाव-सन्धि' भी नहीं है।

भाव-शबलता

जहाँ अनेक भावों का मिश्रण हो, वहाँ 'भाव शबलता' होती है।

भावों की शबलता—रङ्ग बिरङ्गा, चितकबरा होना अर्थात् मिलकर व्यञ्जित होना। जिस प्रकार इमली, मरिच, नमक आदि मिलाकर बने हुए रस में विलक्षण स्वाद होता है, उसी प्रकार अनेक भावों के मेल से विलक्षण स्वाद प्राप्त होता है जो उनके पृथक्-पृथक् अनुभव होने से नहीं होता।

उदाहरण—

> [illegible]
> [illegible]

किमि सज्जन-मुख नैन यहै मम देख सकेंगे,
अंगुरिन मोहि दिखाय हाय ! वे कहा कहेंगे।
जाय राज्य पाताल यह, मोहि न याकी चाह है,
प्रानहु करें पयान मोहि इनकी ना परवाह है।

—हिन्दी-रसगङ्गाधर

सीता को निर्वासित कर देने के अनन्तर भगवान् राम कहते हैं—अरे ! मुझ दुष्ट ने सीता को भी—जो पतिव्रताओं में शिरोमणि है—निकाल दिया—'यह पाप किया है। हाय ! क्या वह चन्द्रमुखी मेरे विना जंगल मे जी सकेगी ? मैं भले लोगों को कैसे मुँह दिखाऊँगा ? वे मुझे क्या कहेगे ?-यह राज्य जाय पाताल मे, मैं अब जीना नहीं चाहता।

यहाँ 'मुझ दुष्ट ने' इससे असूया, 'सीता को भी ... दिया' से विषाद, 'यह पाप किया है' से मति, 'वह ... स्मृति, 'क्या मेरे विना जी सकेगी' से वितर्क, 'मैं भले मानुषों को कैसे मुँह दिखाऊँगा' से लज्जा, 'वे मुझे क्या कहेगे' से शङ्का, और 'यह राज्य पाताल मे जाय मैं अब जीना नहीं चाहता' से निर्वेद,—ये भाव अभिव्यक्त होते हैं। अनेक भावों के सम्मिलन से यह भाव-शवलता हुई।

रसात्मक अनुभव

रस के अतिरिक्त भाव आदि की भी रसात्मक अनुभूति होती है। रसात्मिका अनुभूति से तात्पर्य है—काव्य से उपस्थित विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से सामाजिक के हृदय में वासना रूप से स्थित स्थायी भावों का उद्बुद्ध होकर 'आनन्द' देने लगना। यह आनन्द का अनुभव इन सब मे ठीक रस के ढंग से ही होता है। अतः इनका अनुभव रसात्मक अनुभव कहा गया है और इसीलिये इन सब को साधारण रूप से 'रस' कहा जाता है।

चतुर्थ अध्याय

अलङ्कार-आशय

सुन्दर अर्थ के प्रतिपादक शब्द-समूह को काव्य कहा गया है। अर्थ की सुन्दरता के दो साधन हैं—१ व्यञ्जना और २ अलङ्कार। व्यञ्जना का निरूपण किया जा चुका है। अब यहाँ अलङ्कारों का निरूपण किया जाता है।

अलङ्कार का लक्षण

शब्द और अर्थ में सौन्दर्य उत्पन्न करने वाली वर्णन-शैली को अलङ्कार कहते हैं।

अलङ्कार शब्द का अर्थ है—सौन्दर्य का साधन। इन अलङ्कारों के द्वारा काव्य में सुन्दरता आती है। लोक में सौन्दर्य के साधन हार आदि को अलङ्कार कहा जाता है, अतः साहित्य-शास्त्र के विद्वानों ने भी जिन साधनों से काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है उन्हें 'अलङ्कार' नाम दिया है।

अलङ्कारों का काव्य में स्थान

अर्थ की सुन्दरता के बिना वाक्य को काव्य नहीं कहा जाता और अर्थ की सुन्दरता के सम्पादन के साधनों में एक है अलङ्कार। अतः काव्य के आत्मभूत अर्थ के सौन्दर्य का साधन होने से अलङ्कारों का काव्य में बहुत महत्त्व है। रस या व्यङ्ग्य के बाद यदि काव्य में किसी का महत्त्व है तो अलङ्कारों का। साधारण शब्द और अर्थ तो सर्वत्र रचनाओं में मिल जाते हैं, पर उन्हें काव्य नहीं कहा जाता। अर्थ में सौन्दर्य होने पर ही उसका प्रतिपादक शब्द काव्य-कोटि में आता है। अतः अर्थ के सौन्दर्य के सम्पादक अलङ्कारों का काव्य में प्रधान स्थान होना स्वाभाविक है। किन्तु

भी उच्च कोटि के काव्य हैं, उनमें दोनों प्रकार का सौन्दर्य है—व्यञ्जनाकृत भी और अलङ्कारकृत भी। रचना सुन्दर हो और उसमें कोई अलङ्कार न हो—यह असम्भव-सा है।

तात्पर्य यह है कि अलङ्कारों के द्वारा अर्थ में सुन्दरता आती है। साधारण उक्ति की अपेक्षा अलङ्कार-युक्त उक्ति में अधिक चमत्कार होता है। इसके साथ ही अलङ्कारों के द्वारा भाव भी अधिक स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिये देखिये—मुख की सुन्दरता का भाव बोध कराना हो, तब 'मुख सुन्दर है' इस साधारण कथन सुन्दरता का भाव स्पष्ट नहीं होता, पर जब इसी भाव 'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' इस प्रकार आलङ्कारिक शैली से प्रकट करें तो वह स्पष्ट हो जाता है। सुन्दरता का भाव चन्द्रमा के साथ तुलना करने से शीघ्र समझ मे आ जाता है।

अलङ्कारों के द्वारा उक्ति मे प्रभावोत्पादक शक्ति भी बढ़ जाती है। साधारण उक्ति का प्रभाव नहीं पड़ता, पर अलङ्कृत कथन का प्रभाव प्रबल रूप से पड़ता है। पूर्वोक्त वाक्य में अलङ्कार के द्वारा जहाँ सौन्दर्य की वृद्धि हुई है और भाव स्पष्ट हुआ है वहाँ प्रभाव डालने की शक्ति भी उसकी बढ़ गई है। अतः यह सिद्ध होता है कि अलङ्कारों का काव्य में सौन्दर्य-वृद्धि और प्रभावोत्पादन-शक्ति के साधन होने से विशेष महत्त्व है।

अतएव न केवल शिक्षित ही अपितु साधारण लोग भी अपने भाव को सुन्दर, स्पष्ट और प्रभावशाली बनाने के लिये अपनी उक्ति को अलङ्कारों से सजाते हैं। किसी दुष्ट की-क्रूरता को बताने के लिये साधारण लोग भी कहते हैं—'वह तो काला साँप है'। घर में फूट पड़ने पर कहते हैं—'इस घर में आग लग गई' इन वाक्यों में अलङ्कारों का मूलतत्त्व चमत्कार वर्तमान है।

अतः अलङ्कारों का काव्य में होना अत्यावश्यक है। यह

चतुर्थ अध्याय

अलङ्कार-आशय

सुन्दर अर्थ के प्रतिपादक शब्द-समूह को काव्य कहा गया है। अर्थ की सुन्दरता के दो साधन हैं—१ व्यञ्जना और अलङ्कार। व्यञ्जना का निरूपण किया जा चुका है। अब य अलङ्कारों का निरूपण किया जाता है।

अलङ्कार का लक्षण

शब्द और अर्थ में सौन्दर्य उत्पन्न करने वाली वर्णन शैली को अलङ्कार कहते हैं।

अलङ्कार शब्द का अर्थ है—सौन्दर्य का साधन। इ अलङ्कारों के द्वारा काव्य में सुन्दरता आती है। लोक में सौन्दर्य साधन हार आदि को अलङ्कार कहा जाता है, अतः साहित्य-शा के विद्वानों ने भी जिन साधनों से काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता उन्हें 'अलङ्कार' नाम दिया है।

अलङ्कारों का काव्य में स्थान

अर्थ की सुन्दरता के बिना वाक्य को काव्य नहीं क जाता और अर्थ की सुन्दरता के सम्पादन के साधनों में एक अलङ्कार। अत. काव्य के आत्मभूत अर्थ के सौन्दर्य का साधन है से अलङ्कारों का काव्य में बहुत महत्त्व है। रस या व्यङ्ग्य के यदि काव्य में किसी का महत्त्व है तो अलङ्कारों का। साधा शब्द और अर्थ तो सर्वत्र रचनाओं में मिल जाते हैं, पर उन्हें क नहीं कहा जाता। अर्थ में सौन्दर्य होने पर ही उसका प्रतिप शब्द काव्य-कोटि में आता है। अतः अर्थ के सौन्दर्य के साध अलङ्कारों का काव्य में प्रधान स्थान होना स्वाभाविक है। कि

दूसरी बात है कि सब कवि सभी अलङ्कारों का प्रयोग न करें। कोई किन्हीं अलङ्कारों के द्वारा कविता कामिनी को सजाता है, और कोई दूसरा अन्य दूसरे प्रकार के अलङ्कारों से। कोई उपमा को अपनाता है तो कोई उत्प्रेक्षा को। पर यह तो रुचि-वैचित्र्य है।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो काव्य में अलङ्कारों को उपेक्षणीय समझते हैं। उनका विचार है कि कवि की प्रतिभा की स्वच्छन्दता में अलङ्कार एक प्रकार के बन्धन-से हैं, वे प्रतिभा की गति को अलङ्कारों के एक विशेष बन्धन में जकड़ जाने से अवरुद्ध समझते हैं। पर वस्तुतः यह धारणा निर्मूल है। वास्तव में अलङ्कार प्रतिभा की गति को रोकते नहीं, अपितु उसे आगे बढ़ने में परम सहायता पहुँचाते हैं। जब कवि भावों को प्रकट करने में अपने को असमर्थ पाता है, तब वह अलङ्कारों का ही आश्रय लेता है। अलङ्कारों की सहायता से वह भाव सुचारु रूप से व्यक्त हो जाते हैं। यह तो सभी मानते हैं कि रहस्यवादियों की भावना को साधारण भाषा अभिव्यक्त नहीं कर पाती, उनकी अभिव्यक्ति रूपक और अन्योक्तियों के द्वारा स्फुट होती है। रहस्यवादी कबीर आदि के काव्यों में, अतएव, ऐसे स्थलों पर रूपक और अन्योक्तियों का आश्रय लिया गया है। ये रूपक और अन्योक्ति वर्णन करने की विलक्षण शैली ही तो हैं, दूसरे शब्दों में अलङ्कार ही तो हैं। अतः यह कहना सर्वथा अति-[illegible] है कि अलङ्कार कवि-प्रतिभा की प्रगति के बाधक हैं।

अलङ्कार कवि-प्रतिभा की प्रगति में परम सहायक हैं—इस पर और अधिक न कहकर अब केवल एक उदाहरण देकर इसे स्पष्ट किया जाता है—

उदाहरण—[illegible],
[illegible]।

—श्रीमहादेवी वर्मा

इस पद्य को लीजिये। यहाँ बात इतनी है कि—'वह आकाश की ओर शान्त-भाव से देख रही है और अतएव उसे अनेक बातों का स्मरण हो रहा है'। इस भाव को अलङ्कार ने कितना सुन्दर और स्पष्ट कर दिया है। आकाश की ओर देखने मे सम्भावना की गई है कि 'आकाश के अनेक रङ्गों को चितवन खींच लाई है, आकाश के अनेक रङ्ग हैं न'। उस समय अनेक बातों का स्मरण हो आया है। स्मरण में अनेक बाते हैं। अतएव उसकी अनेक रङ्ग वाले इन्द्र-धनुष से उपमा दी गई है। इस उपमा से स्मृति मे अ भावों की विविधता किस प्रकार स्पष्ट और चमत्कृत हो गई है

अब विचार कर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि यहाँ उ और उपमा अलङ्कार कवि-प्रतिभा की गति को आगे बढ़ने में परम सहायक सिद्ध हो रहे हैं।

अतः अलङ्कारों का काव्य में विशेष महत्त्व है, इनका होना काव्य के लिये अत्यावश्यक है।

परन्तु यह ध्यान रहे कि ये सौन्दर्य की वृद्धि के साधन ही रहें, ऐसा न हो कि साधन ही साध्य बन जायँ। अलङ्कारों की योजना मे भाव को सर्वथा भुलाना नहीं चाहिये। वर्ण्य विषय को चमत्कृत और प्रभाव-शाली बनाने के लिये ही इनका उपयोग होना चाहिये। अलङ्कार काव्य के लिये हैं, न कि काव्य अलङ्कारों के लिये। यदि काव्य की रचना केवल अलङ्कारों के उद्देश्य से ही की जायगी तो वह उत्तम काव्य न हो सकेगी। संसार में भी जब अलङ्कार कामिनी की शोभा वृद्धि करते हैं तब उन्हें अलङ्कार कहा जाता है। यदि कामिनी के नाक, कान छेदकर अलङ्कार नामक सोने और चाँदी के टुकड़े रक्त की धारा वहा दें या उस पर वे इतने लाद दिये जायँ कि उनके बीच मे उसके दर्शन ही न हों और उसके भार से वह स्वयं साँस न ले सके, चल न सके तो ऐसी दशा मे उन्हें कैसे

दूसरे शब्दालङ्कार। उपर्युक्त कथन से शब्दालङ्कारों का अर्थालङ्कारों की अपेक्षा कम महत्त्व है यह भी सिद्ध हो गया। इसीलिये शब्दालङ्कार-प्रधान काव्य को अधम और अर्थालङ्कार-प्रधान काव्य को मध्यम और उत्तम कहा गया है। इस अन्तर पर ध्यान न देने के कारण ही बहुत से लोग अलङ्कारों को काव्य के लिये आवश्यक नहीं मानते। परन्तु अर्थालङ्कार और शब्दालङ्कारों के इस स्पष्ट भेद के द्वारा अर्थालङ्कारों का महत्त्व अधिक है। उनका होना काव्य में अत्यावश्यक है, शब्दालङ्कारों का उतना नहीं। शब्दालङ्कारों के विषय में कहा जा सकता है कि वे काव्य में आवश्यक नहीं। उन्हीं के साथ साथ अर्थालङ्कारों के लिये भी यही समझा जाने लगा है। पर वास्तव में अर्थालङ्कारों और शब्दालङ्कारों में चमत्कार के तारतम्य से महान् अन्तर है।

अब शब्दालङ्कारों की अपेक्षा अधिक महत्त्वशाली और आवश्यक होने के कारण अर्थालङ्कारों का पहले निरूपण किया जाता है।

इन अलङ्कारों की संख्या अभी तक निश्चित नहीं की जा सकी है, क्योंकि वर्णन-शैली ही तो अलङ्कार है और इसके अतिरिक्त उसके रूप भी नियत नहीं। क्योंकि रूपों में बराबर परिवर्तन और वृद्धि होती रहती है। प्रारम्भ में केवल चार अलङ्कार माने गये थे, पर अब वृद्धि होते होते इनकी संख्या सौ से अधिक हो गई है। अभी वृद्धि रुकी हो ऐसी बात नहीं। हाँ, बहुत से प्राचीन अलङ्कार अब उपयोग में नहीं आते और बहुत से अब नये आदर्श के अलङ्कार बन गये हैं। उन नव आविष्कृत वर्णन-शैलियों का नामकरण अभी नहीं किया गया। परन्तु यहाँ अब तक साहित्य के आचार्यों ने जितने अलङ्कार माने हैं, उनमें से मुख्य मुख्य अलङ्कारों का निरूपण किया जायगा।

अर्थालङ्कारों को मुख्यतः पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. साम्य-मूलक, २. विरोध मूलक, ३. शृङ्खला-मूलक, ४. न्याय-मूलक, ५ गूढार्थ-प्रतीति-मूलक।

१. साम्य-मूलक—वे अलङ्कार हैं जहाँ साम्य का वर्णन होता है। जैसे—उपमा, रूपक, सन्देह, भ्रान्तिमान् आदि।

२. विरोध-मूलक—वे अलङ्कार हैं, जहाँ विरोध को लेकर दो वस्तुओं का वर्णन होता है। जैसे—विरोध, विषम और असङ्गति आदि।

३. शृङ्खला-मूलक—वे अलङ्कार हैं, जिनमें पदार्थों का वर्णन शृङ्खलाबद्ध-सा हो। जैसे—एकावली, कारणमाला और सार।

४. न्याय-मूलक—वे अलङ्कार हैं, जिनमें तर्क या लोक-न्याय के द्वारा वर्णन में चमत्कार लाया जाय। जैसे—काव्यलिङ्ग, यथासंख्य और तद्गुण आदि।

५. गूढार्थ-प्रतीति-मूलक—वे अलङ्कार हैं जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति कराई जाती है। जैसे—पर्यायोक्ति आदि।

कुछ अलङ्कार ऐसे भी हैं, जिन्हें वर्गीकरण में लाना कठिन है।

इन अलङ्कारों का निरूपण इस क्रम से किया जायगा। साम्यमूलक अलङ्कार अधिक हैं और उनका प्रयोग भी अधिक होता है। अतएव उनका पहले निरूपण किया जायगा। अन्य वर्गों के भी प्रधान प्रधान अलङ्कारों का यथास्थान निरूपण होगा। ग्रन्थ-विस्तार के भय से सब का उल्लेख करना [illegible] है।

साम्य-मूलक अर्थालङ्कार

उपमा साम्यमूलक अर्थालङ्कारों में प्रधान है। इसकी प्रधानता का कारण यह है कि यह भिन्न भिन्न रीति से वर्णन करने

पर भिन्न[1] भिन्न अलङ्कारों का रूप धारण कर लेती है। कैसे एक उपमा वर्णन शैली के भेद से भिन्न भिन्न अलङ्कारों का रूप धारण करती है। यह उन अलङ्कारों का निरूपण हो जाने के अनन्तर बताया जायगा, क्योंकि तभी उसका रूप हृदयङ्गम हो सकेगा।

अतः प्रधान होने से सर्व-प्रथम उपमा अलङ्कार का निरूपण किया जाता है।

१. उपमा

जहाँ परस्पर भेद रहते हुए उपमेय का उपमान के साथ सादृश्य का वर्णन हो, वहाँ 'उपमा' अलङ्कार होता है।

जहाँ, उपमेय और उपमान परस्पर भिन्न नहीं होते, किन्तु एक ही वस्तु उपमेय और उपमान होता है, वहाँ उपमा अलङ्कार नहीं होता। जैसे—'भारत के सम भारत है' यहाँ उपमेय और उपमान एक 'भारत' ही है, परस्पर भिन्न नहीं। अतः यहाँ 'उपमा' नहीं होगी, किन्तु आगे बताया जाने वाला 'अनन्वय' अलङ्कार होगा।

उपमा के मुख्य दो भेद हैं—१. पूर्णोपमा और २. लुप्तोपमा।

पूर्णोपमा[2]

जहाँ उपमा में उपमेय, उपमान, समान धर्म और वाचक शब्द ये चारों वर्तमान हों वहाँ पूर्णोपमा होती है।

---

१ अप्पय दीक्षित ने चित्र-मीमांसा में कहा है—

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदा चेतः।

अर्थात् एक उपमा नटी ही अनेक विचित्र वेष बदलकर अनन्वय आदि भिन्न भिन्न अलङ्कारों के रूप में प्रकट होकर काव्यरूपी रङ्ग-मञ्च पर नाचती हुई अलङ्कार-मर्मज्ञ सहृदयों के हृदय को प्रसन्न करती है।

२ पूर्णोपमा वाचक धरम उपमे अरु उपमान।
शशि सौं उज्वल तिय बदन; पल्लव से मृदु पान। —काव्यप्रभाकर

इसे पूर्णोपमा इसलिये कहते हैं कि इसमें उपमा के चारों अङ्ग विद्यमान रहते हैं, दूसरे शब्दों में उपमा पूरी पूरी होती है।

पूर्णोपमा का उदाहरण देने के पूर्व इन चारों का स्वरूप बता देना अत्यावश्यक है।

उपमेय—जो वर्णन का विषय होता है और जिसकी किसी अन्य उत्कृष्ट वस्तु से समानता कही जाय, उसे उपमेय कहते हैं।

जैसे—'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' यहाँ मुख वर्णन का विषय है और सुन्दरता में उत्कृष्ट चन्द्रमा से उसकी समानता बताई गई है, अतः मुख उपमेय है। इसे—विषय, वर्ण्य, प्रस्तुत, प्रासङ्गिक और प्राकरणिक भी कहा जाता है।

उपमान—वर्णन के विषयभूत पदार्थ की अर्थात् उपमेय की जिस उत्कृष्ट गुण वाले पदार्थ के साथ समता की जाती है, उसे उपमान कहते हैं।

जैसे—पूर्वोक्त उदाहरण में उपमेय मुख की चन्द्रमा के साथ समता की गई है, अतः वह उपमान है। उपमान उपमेय की [illegible] के लिये होता है, वह वर्णन का मुख्य विषय नहीं होता। मुख्य विषय उपमेय ही होता है। अतः उपमान को—अवर्ण्य, विषयी, अप्रस्तुत, अप्रासङ्गिक और अप्राकरणिक भी कहा जाता है।

साधारण धर्म—उपमेय और उपमान में जो धर्म समान रूप से मिलता है, उसे समान या साधारण धर्म कहते हैं। दो वस्तुओं की समानता बिना किसी समान धर्म के नहीं हो सकती।

जैसे, पूर्वोक्त उदाहरण में मुख की चन्द्रमा से समानता बताई गई है। समानता का हेतु है सुन्दरता। सुन्दरता उपमेय और उपमान दोनों में रहती है। इसी लिये [illegible] के साधारण धर्म कहते हैं। धर्म की समानता में [illegible]

दूसरी के समान कहा जाता है, यदि दोनों मे कोई समान धर्म नहीं होगा तो समानता वन न सकेगी।

वाचक शब्द—जो शब्द समानता बताने वाले हैं, वे वाचक शब्द कहे जाते हैं। सादृश्य-वाचक और उपमा-वाचक शब्द भी इन्हें ही कहा जाता है। समान, सदृश, सो, से, सी, ज्यों, जैसे, जैसा, जिमि, लौं, तुल्य, तूल और सम आदि शब्द सादृश्य-वाचक हैं। पूर्वोक्त उदाहरण मे 'समान' सादृश्य-वाचक शब्द है।

विशेष सूचना—ऊपर जैसा बताया गया है उसके अनुसार उपमेय और उपमान नियत नहीं। जब जो वर्णन का विषय होगा और उसकी किसी अन्य से समता की जायगी तब वही उपमेय होगा और जिससे तुलना की जायगी वह उपमान। 'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' यहाँ मुख की चन्द्रमा के साथ समता बताने से 'चन्द्रमा' उपमान है, पर वही 'नवनीत के पिण्ड के समान चन्द्रमा है' यहाँ उपमेय बन जाता है, क्योंकि वही वर्णन का विषय है और उसकी मक्खन के पिण्ड से समता कही जा रही है। इसी प्रकार 'दूर दूर तक विस्तृत था हिम स्तब्ध उसी के हृदय समान' यहाँ हिम वर्णन का विषय है और उसकी समता हृदय के साथ कही जाने से हृदय उपमान है तथा 'हृदय नवनीत के समान कोमल है' इस वाक्य में हृदय उपमेय है, वही वर्णन का विषय है और मक्खन से समता बताई जाने के कारण वह उपमान है।

यह भी ध्यान रहना चाहिये कि उपमान सदा उपमेय की अपेक्षा उस समान धर्म के विषय में उत्कृष्ट हुआ करता है, तभी समता कहने का उद्देश्य भी सिद्ध होता है। 'हृदय पत्थर के समान कठोर है' इस वाक्य मे हृदय की कठोरता का वर्णन है, उपमेय हृदय है और उपमान पत्थर। पत्थर में साधारण धर्म कठोरता हृदय की अपेक्षा बढ़कर है, अतएव वह उपमान कहा गया है।

३. पहेली-सा जीवन है व्यस्त।

—कामायनी

४. नयन तेरे मीन से हैं सजल भी क्यों दीन ?
पद्मिनी-सी मधुर मृदु तू किन्तु है क्यों दीन ?

—यशोधरा

५. बालिका वराकी वह कैसे सह पायगी
जल हिमवालुका-सी पल में विलायगी।

—यशोधरा

६. कहाँ से आई यह मुसकान ? कहाँ है इसका जन्म स्थान ?
रूप-सागर की लहर समान ? हुई है प्रकट महा-छबिमान ?

—कादम्बिनी

७ पीपर-पात सरिस मन डोला।

—रामचरितमानस

८. तारिका-सी तुम दिव्याकार।

—गुञ्जन

९. बिशिख सदृश परमदुखद परुष वचन कह न सुहृद।
कर सुकथन हृदय-हरन सुखद अमृत-सदृश वचन।

—रामनरेश त्रिपाठी

१०. स्नेह-सुरा में बद सखि चिरकाल,
दीप की अकलुष-शिखा-समान।

—गुञ्जन

११. शतरंगों के इन्द्रधनुष-सी स्मृति उर में छाई।

—श्रीमहादेवी वर्मा

लुप्तोपमा

उपमा में जब चारों अङ्गों का उपादान शब्द के द्वारा न हो तब उसे लुप्तोपमा कहते हैं।

---

१. लुप्तोपम है अङ्ग जहँ न्यून चार वे देख।
बिजुरी-सी पङ्कज-मुखी, कनकलता तिय लेख।

—काव्य-प्रभाकर

'मुख चन्द्रमा के समान है' यहाँ उपमेय 'मुख' है, उपमान 'चन्द्रमा' है, वाचक पद समान है, परन्तु समान धर्म नहीं कहा गया है। अतः चारों अङ्गों के शब्द के द्वारा न कहे जाने से यहाँ 'लुप्तोपमा' है।

उदाहरण—

कोटि कुलिस-सम बचन तुम्हारा।

—रामचरितमानस

यहाँ 'वचन' उपमेय है 'कुलिश' उपमान और 'सम' वाचक। समान धर्म यहाँ नहीं कहा गया। अतः चारों अङ्गों के उपादान न होने से यहाँ लुप्तोपमा है।

यद्यपि यहाँ समान धर्म कहा नहीं गया, तथापि उसका अध्याहार कर लिया जाता है अर्थात् ऊपर से समझ लिया जाता है, नहीं तो समानता सिद्ध नहीं होती। बिना समान धर्म के समानता हो ही नहीं सकती। ऐसे स्थलों पर समान धर्म प्रसिद्ध हुआ करता है, अतएव उसे छोड़ दिया जाता है। प्रसिद्ध होने के कारण ही वह बिना कहे भी समझ में आ जाता है। पूर्वोक्त उदाहरणों में 'सुन्दरता' या 'आनन्द-दायकता' रूप समान धर्म प्रसिद्ध है। इसी प्रसिद्ध धर्म के कारण चन्द्रमा से मुख की समानता कही जाती है। प्रस्तुत उदाहरण में 'कठोरता' रूप धर्म वज्र में प्रसिद्ध है, और वचनों में भी है। अतः 'कठोरता' समान धर्म हुआ। प्रसिद्ध होने के कारण यहाँ कथन नहीं किया गया।

प्रसिद्ध समान धर्म का ज्ञान सहृदयों को रहता है। अतः वे प्रसिद्धि और सादृश्य के अनुसार लुप्तोपमा में उसे समझ लेते हैं।

उपमान का जो धर्म प्रसिद्ध होता है, उसी के द्वारा [illegible] उपमान के [illegible] कही जाती है।

उपमान मे अनेक धर्म होते हैं, पर समान धर्म वही धर्म होगा, जो वक्ता को विवक्षित और उपयुक्त हो अन्यथा 'टेढ़ी खीर' होने की सम्भावना रहती है। अन्धे ने पूछा कि 'खीर कैसी होती है'। 'दूध के समान' 'चद्दर के समान' आदि कई प्रकार से समझाने पर भी वह जब न समझा तो अन्त में उसे कहा गया 'सारस की गर्दन के जैसी'। इस पर भी अन्धे ने जब कहा—'सारस की गर्दन कैसी होती है' ? तब हाथ का आकार सारस की गर्दन के जैसे बनाकर उसे उत्तर दिया गया कि—'ऐसी होती है'। अन्धे ने जब हाथ को टटोला तो टेढा पाया और समझ गया कि खीर टेढ़ी होती है। वास्तव मे समान धर्म 'सफेदी' था। पर अन्धा उसे समझ नहीं रहा था। रंग का उसे क्या पता ? अतः उसने 'टेढ़े-पन' को ही समान धर्म समझ लिया और डर गया कि वह तो गले मे अटक जायगी। कहने का तात्पर्य यह है कि लुप्तोपमा के स्थल में जहाँ साधारण धर्म का लोप हुआ हो, वहाँ उसे समझने मे पूरी सावधानी से काम लेना चाहिये।

लुप्तोपमा में साधारण धर्म का ही लोप अधिकतर होता है। वाचक का लोप समास-स्थल मे होता है। अतएव इसका हिन्दी में कम प्रयोग होता है। उपमेय और उपमान के लोप के उदाहरण संस्कृत में ही कम मिलते हैं, हिन्दी में तो बहुत ही कम। इसी लिये लुप्तोपमा के अनेक भेद यहाँ नहीं किये गये हैं। अभ्यास के लिये दो एक उदाहरण यहाँ दिये देते हैं।

उदाहरण—

गूँजते थे रानी के कान तीर-सी लगती थी तान।

—साकेत

यहाँ समान धर्म का लोप हुआ। 'चुभकर दुःख देना' यह धर्म है। उपमेय—तान। उपमान—तीर। वाचकपद—सी।

समानधर्म लुप्ता—

शलभ-चपल मेरे मन-प्राण ।

—गुञ्जन

यहाँ 'शलभ—पतङ्ग—के समान मेरे मन और प्राण चपल हैं' यह अभिप्राय है । उपमेय—मन, प्राण । उपमान—शलभ । समान धर्म—चपलता । वाचकपद का यहाँ लोप हुआ है ।

धर्म-वाचक-लुप्ता—'चन्द्रमुखी' का अर्थ है 'चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाली' । यहाँ चन्द्र उपमान और मुख उपमेय है । वाचक और धर्म लुप्त हैं ।

धर्म-उपमान वाचक लुप्ता—'मृगनयनी' पद का अर्थ है—'मृग के नयनों के समान नयन वाली' । यहाँ समास होने पर केवल उपमेय नयन शेष रह गया है । उपमान नयन सम्बन्ध पद का तथा वाचक पद का लोप हुआ है, साधारण धर्म भी यहाँ नहीं है । अतः यहाँ तीन के लोप में उपमा है ।

इस उदाहरण में मृग को उपमान न समझ बैठना चाहिये । सुन्दरी के नयन मृग के नयनों के समान हैं न कि मृग के ही समान । अतः मृग के उपमान होने का भ्रम न करना चाहिये ।

ये लुप्तोपमा के उदाहरण प्रायः समास में ही मिलते हैं जैसा कि, उदाहरणों से प्रकट है ।

यहाँ तक पदार्थों की पदार्थों के साथ समता के कारण [illegible] हुई । अब वाक्यार्थों की उपमा का वर्णन करते हैं ।

वाक्यार्थोपमा

जहाँ एक वाक्यार्थ की दूसरे वाक्यार्थ के साथ सा[illegible] के द्वारा समता की गई हो वहाँ वाक्यार्थोपमा होती है ।

इस वाक्यार्थोपमा के [illegible] [illegible]

[illegible]

जैसे बिम्ब वास्तविक पदार्थ का और प्रतिबिम्ब छाया का अत्यन्त सादृश्य होता है, वैसे ही जब दो पदार्थों मे भिन्न होते हुए भी अत्यन्त सादृश्य मालूम पड़े, तब बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव कहा जाता है।

उदाहरण—

बरसहिं जलद भूमि नियराये।
यथा नवहिं बुध विद्या पाये॥

—रामचरितमानस

'बादल भूमि के पास आकर बरस रहे हैं' इस पहले वाक्य के अर्थ की 'विद्वान् विद्या पाने से झुक जाते हैं' इस वाक्यार्थ के साथ समता कही गई है। यहाँ बरसना अर्थात् पृथ्वी पर नीचे आ जाना और झुक जाना—नम्र होना—इन धर्मों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव है। 'विद्या पाना' और 'भूमि के निकट होना' में भी पूर्ववत् बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव है। अतः यहाँ वाक्यार्थोपमा है।

निम्नलिखित भी इसी प्रकार वाक्यार्थोपमा के उदाहरण हैं—

१. उदित कुमुदिनी-नाथ हुए प्राची मे ऐसे,
सुधा-कलश रत्नाकर से उठता हो जैसे।

२. बुन्द-अघात सहैं गिरि कैसे,
खल के वचन सन्त सह जैसे।

—रामचरितमानस

३. विद्या धन उद्यम बिना कहौ जु पावै कौन?
बिना डुलाये ना मिलै ज्यों पंखा की पौन।

—वृन्द

४. पिसुन-छर्यो[1] नर सुजन सों करत बिसास न चूकि।
जैसे दाँध्यो[2] दूध को पीवत छाँछहि फूँकि।

—वृन्द

[1]. चुगलखोर। २. दग्ध, जला हुआ।

५. भूमि जीव संकुल रहे, गये सरद ऋतु पाय।
सद्गुरु मिले जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाय।

६ कबहुं दिवस महँ निबिड़ तम, कबहुँक प्रकट पतंग।
उपजे बिनसहि ज्ञान जिमि, पाइ सुसंग कुसंग।

७ रस रस सूख सरित सर पानी।
ममता त्यागि करहिं जिमि ज्ञानी।

—रामचरितमानस

इस वाक्यार्थोपमा में दोनों वाक्यार्थ विशेष रहते [illegible] और वाचक शब्द विद्यमान होता है। आगे बताये जाने वाले उदाहरण अलङ्कार से इसका अत्यन्त सूक्ष्म भेद है, वह उदाहरण अलङ्कार के प्रकरण में ही बताया जायगा। इस सूक्ष्म भेद के न जानने के कारण इनमें अन्तर करना कठिन है। दृष्टान्त और अर्थान्तर-न्यास से भी यह वाक्यार्थोपमा भिन्न है, इसका निरूपण भी आगे किया जायगा।

मालोपमा

जहाँ एक उपमेय की अनेक उपमानों से समता का वर्णन हो वहाँ मालोपमा होती है।

इस मालोपमा में अनेक उपमानों के साथ समता एक धर्म से भी होती है और भिन्न-भिन्न धर्म से भी। दोनों प्रकार के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

जैसे—'मुख कमल और चन्द्रमा के समान सुन्दर है' यहाँ एक 'मुख' उपमेय के दो उपमान 'कमल' और 'चन्द्र' कहे गये हैं। [illegible]

१ [illegible] २ [illegible] ३ [illegible] ४ [illegible]

[illegible]

[illegible]

—[illegible]

यहाँ मालोपमा है। सुन्दरता रूप एक समान धर्म होने पर यह एकधर्मा है।

मुख कमल के समान कोमल और चन्द्रमा के समान आनन्ददायक है। यहाँ भी मुख के कमल और चन्द्रमा दो उपमान हैं। कमल के साथ कोमलता और चन्द्रमा के साथ 'आनन्ददायकता' रूप भिन्न भिन्न धर्मों से समता की गई है। अतः यह भिन्न-धर्मा है।

उदाहरण—

वह विश्व की पुत्तलिका सी, विषम जगत की प्रतिछाया-सी।
निद्रित-सी, सरित-लहर-सी, जीवन-सी, छल-सी, माया-सी।

—मानसी

यहाँ एक 'मानसी' उपमेय की पुत्तलिका आदि कई उपमानों से समता की गई है। और साधारण धर्म 'अनेकरूपता' रूप एक है।

उदाहरण—

गन्धवाही[1] गहन[2] कुन्तल[3] तूल[4] से मृदु धूम-श्यामल।

—श्रीमहादेवी वर्मा

यहाँ सुगन्धित और घने केशों की तूल और धूम से समता की गई है और समान धर्म मृदुता तथा श्यामलता—ये दो हैं। अतः यहाँ भिन्न-धर्मा मालोपमा है।

उदाहरण—

मैं सुमन[6]-सदृश हँस हँस कर जग को भी साथ हँसाऊँ।
सौरभ[7] समीर[8]-सा लेकर मैं फैल विश्व में जाऊँ।
कोकिल-सा पञ्चम स्वर में गाकर मैं रस बरसाऊँ।

—कादम्बिनी (कामना)

१. सुगन्धित। २. घने। ३. केश। ४ रुई। ५ [illegible]
६. फूल। ७. सुगन्ध। ८. वायु।

नक्षत्रों से ज्योतित नभ की वह है अति सुन्दर छाया-सी,
संसार अचेतन है जिसमें है पर ब्रह्म की माया-सी।
—कादम्बिनी (चाँदनी)

५. कहो, कौन हो दमयन्ती-सी तुम तरु के नीचे सोई,
पीले पत्तों की शय्या पर तुम विरक्ति-सी, मूर्च्छा-सी।
विजन[1] विपिन[2] में कौन पड़ी हो विरह मलिन दुखविधुरा[3]-सी,
पछतावे की परछाई-सी तुम भूपर छाई हो कौन,
दुर्बलता-सी, अँगड़ाई-सी, अपराधी-सी भय से मौन।
—पन्त (छाया)

इसके अतिरिक्त उपमा के अन्य बहुत से प्रकार अन्य आचार्यों ने कहे हैं। परन्तु उनके पृथक् भेद मानने में विशेष प्रबल हेतु न होने से यहाँ भेदों की संख्या नहीं बढाई गई।

उदाहरण के लिये—

[उपमेय की एक ही उपमान के साथ अनेक धर्मों से समता में 'समुच्चयोपमा' कही जाती है। जैसे—

मृदुल मुकुल-सा मञ्जु मनोहर शिशु का प्रादुर्भाव हुआ।]
—कादम्बिनी

यहाँ शिशु की एक मुकुल से मृदुलता, मञ्जुता और मनोहरता रूप तीन धर्मों से समता की जाने से 'समुच्चयोपमा' है।

इसी प्रकार उपमान का अग्रिम वाक्य में उपमेय बन जाना रूप से 'रसनोपमा' भी कही जाती है। 'सहोदर' 'हँसता है' 'होड़ करता है' आदि सादृश्य के लाक्षणिक शब्दों के उपादान होने पर 'ललितोपमा' भी कही गई है।

पर इन सब को यहाँ पृथक् भेद के रूप में नहीं दिखाया गया।

---

१. निर्जन। २ वन। ३. दुःख से व्याकुल।

उपमेय। साधारण धर्म एक सुन्दरता ही है। अतएव 'इनके समान तीसरा नहीं' इस अभिप्राय के यहाँ स्पष्ट होने से उपमेयोपमा है।

उदाहरण—

कुलिश के समान है कठोर असज्जन-हृदय
असज्जन हृदय के सदृश कुलिश कठोर है।
सज्जनों की प्रकृति होती है सुधा-सदृश
सुधा होती है मधुर सज्जन की प्रकृति-सम।

यहाँ पहली दो पंक्तियों के प्रथम वाक्य में 'कुलिश' उपमान है और 'असज्जन-हृदय' उपमेय। दूसरे वाक्य में 'कुलिश' उपमेय है और 'असज्जन-हृदय' उपमान। अतः यहाँ उपमेयोपमा है। इसी प्रकार उत्तरार्ध में भी उपमेयोपमा है।

अन्य उदाहरण—

१. वे तुम सम तुम उन सम स्वामी।

—रामचरितमानस

२ राम के समान शंभु, शंभु-सम राम है।

—भारतीभूषण

३ वचन सुधा-से सन्त के, सुधा वचन-सम जान,
वचन खलन के विष-सदृश, विष खल-वचन-समान।

—अलङ्कार कौमुदी

४. अम्बर-गङ्ग सो है सरजू सरजू-सम गङ्ग-छटा नभ साजे,
त्यों 'लछिराम' सु-देव-से सेवक, सेवक से सुभ देव-समाजे।
सोहैं सुरेस-से राम नरेस, सुरेस-हु राम नरेस-सो राजै,
औध-पुरी अमरावती-सी, अमरावती औधपुरी-सी विराजै।

१. वज्र। २. अमृत। ३. अम्बर—आकाश, आकाश-गंगा। ४ देवताओं का स्वामी इन्द्र। ५. अयोध्या, ६. इन्द्र की पुरी।

४. यद्यपि यहाँ अनेक-पुण्यमय तीर्थ कितने ही हैं, पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि गङ्गा गङ्गा के ही समान है।

५. गङ्गा गङ्गा के समान मनोहर है, गङ्गा गङ्गा के समान पावन है। गुरु गुरु के ही समान आराध्य है।

६. छटा-छवि-प्रतिभा-रञ्ज अनूप, तुम्हीं बस हो अपने अनुरूप।

—रामचन्द्र शुक्ल

४. असम

जहाँ सर्वथा उपमान का निषेध कर दिया जाय अर्थात् ऐसा कह दिया जाय कि 'इसका कोई उपमान नहीं' वहाँ 'असम' अलङ्कार होता है।

'असम' का अर्थ है—जिसके समान कोई न हो।

अनन्वय अलङ्कार में भी 'उपमान' का निषेध व्यङ्गय रहता है, पर वहाँ एक ही वस्तु को उपमेय और उपमान बनाकर उपमा बना ली जाती है। यहाँ केवल यह कहा जाता है कि 'इसकी उपमा जिससे दी जाय ऐसा कोई नहीं' और अनन्वय में—'यह इसी के समान है' ऐसा अवश्य कहा जाता है।

'संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिससे मुख की समता की जाय' यहाँ मुख के उपमान का सर्वथा निषेध होने से 'असम' है।

उदाहरण—

सुर-सरि-सी सरि है कहाँ, मेरु सुमेरु समान।
जन्म-भूमि-सी भू नहीं, भू-मण्डल में आन॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय

अर्थात् गङ्गा के समान इस भू-मण्डल में और नदी कहाँ

१. पवित्र करने वाली। २. देवताओं की नदी अर्थात् गङ्गा। ३. नदी। ४. पर्वत। ५. इस नाम का पर्वत। ६ भूमि।

उपस्थित किया गया है। अर्थात्—लशुन में बहुत गुण हैं, आयुर्वेद के अनुसार शरीर के लिये वह बहुत उपकारक है पर एक दुर्गन्ध रूप दोष के कारण उसे अच्छा नहीं समझा जाता। 'अपरिमित गुण वाला पदार्थ' सामान्य है और 'लशुन' उसमे विशेष। सामान्य अवयवी—समुदाय है और विशेष पदार्थ अवयव। अतः यहाँ 'उदाहरण' अलङ्कार है।

उदाहरण को उपमा नहीं कह सकते, क्योंकि उपमा उपमानोपमेय-भाव मे होती है। सामान्य और विशेष उपमान और उपमेय नहीं होते। उपमान और उपमेय दो विशेष पदार्थ ही बनते हैं।

उदाहरण—

नीकी पै फीकी लगै बिन अवसर की बात,
जैसे बरनत युद्ध में रस शृङ्गार न सुहात।

—वृन्द

अर्थात् बिना अवसर के बात अच्छी नहीं लगती चाहे वह अच्छी ही क्यो न हो। जैसे युद्ध के अवसर पर शृङ्गार रस की बात फीकी मालूम पड़ती है।

यहाँ पहले सामान्य रूप से 'अच्छी बात का भी बिना अवसर के फीका लगना' कहा गया है। स्पष्टता के लिये उसी के विशेष अंश 'युद्ध में शृङ्गार की बात' का वर्णन किया गया है। अतः यहाँ 'उदाहरण' अलङ्कार है।

अन्य उदाहरण—

१. कैसे निबहै निबल जन करि सबलन सों गैर,
जैसे बस सागर-विषै करत मगर सों बैर।
२. सहज रसीलो होय सो करत अहित पर हेत।
जैसे पीड़ित पीजिये, करु तऊ रस देत।

१. शत्रु। २ उपकार।

अपकर्ष होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह उपमा से प्रतीप विरुद्ध होता है। अतएव इसे 'विपरीतोपमा' भी कहते हैं।

उपमान का अपकर्ष पाँच प्रकार से बताया जा सकता है। अतः इसके भी पाँच भेद होते हैं। पाँचों भेदों का क्रम से निरूपण किया जाता है।

१. जहाँ[1] प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना दिया जाय वहाँ प्रथम प्रतीप होता है।

जैसे—'मुख के समान चन्द्रमा है' यहाँ चन्द्रमा का, जो मुख के लिये उपमान रूप में प्रसिद्ध है, उपमेय के रूप में वर्णन किया गया है। अतः यहाँ प्रथम प्रतीप है।

उदाहरण—

मोदि देत आनन्द को, वा मुख-सो यह चन्द।
लीनो आह छिपाइकैं, बैरी बादर-वृन्द।

—राजा रामसिंह

यहाँ मुख के प्रसिद्ध उपमान 'चन्द्रमा' को उपमेय बनाया गया है, इसलिये 'प्रतीप' अलङ्कार है।

२. जहाँ उपमेय की किसी गुण के कारण प्रयुक्त अद्वितीयता का खण्डन करने के लिये उपमान रूप दूसरी वस्तु के प्रदर्शन से सादृश्य का वर्णन किया जाय वहाँ दूसरा प्रतीप होता है।

जैसे—'मुख, तू अपनी सुन्दरता का क्यों गर्व करता है, तुम्हारे समान तो चन्द्रमा है।'

यहाँ सुन्दरता-गुण-प्रयुक्त मुख की अद्वितीयता का खण्डन

---

१. सो प्रतीप उपमेय सम जब कहिये उपमान।
लोयन-से अम्बुज बने, मुख-सो चन्द्र बखान।

—काव्यप्रभाकर

द्वारा पर्वत-श्रृङ्ग की अद्वितीयता का खण्डन किया गया है। अतः यहाँ प्रतीप है।

४. जहाँ पहले उपमेय की उपमान के साथ समता का वर्णन अथवा सम्भावना की जाय और फिर उस समता का खण्डन किया जाय वहाँ भी प्रतीप होता है।

जैसे—'तुम्हारा मुख चन्द्रमा के समान कवि बताते हैं पर यह ठीक नहीं'।

यहाँ पहले मुख की चन्द्रमा से समता कही गई है फिर उसका खण्डन कर दिया गया है। अतः यहाँ प्रतीप है।

उदाहरण—

बहुरि विचार कीन मन माहीं,
सीय बदन-सम हिमकर नाहीं।

—रामचरितमानस

यहाँ सीता जी के मुख की चन्द्रमा के साथ समता का वर्णन कर निषेध किया गया है। अतः प्रतीप अलङ्कार है।

५. जहाँ उपमेय के रहते 'उपमान' का होना व्यर्थ बताया जाय, वहाँ भी प्रतीप होता है।

उपमान के जो कार्य हैं, उनका उपमेय के द्वारा सिद्ध होना बताकर यहाँ उपमान की निरर्थकता कही जाती है।

जैसे—'मुख के रहते चन्द्रमा की क्या आवश्यकता है?' यहाँ मुख के रहते चन्द्रमा को व्यर्थ बताया गया है। अतः प्रतीप है।

उदाहरण—

राव 'भावसिंह' जू के दान की बड़ाई देखि,
कहा कामधेनु[1] है, कछू न सुरतरु[2] है।

—मतिराम

---

१. इच्छा पूर्ण करने वाली गाय। २. कल्पवृक्ष।

(ख) हे विष, तुम इस बात का गर्व न करो कि मैं ही सब से अधिक क्रूर हूँ, तुम्हारे समान दुष्टों के वचन बहुत हैं।

(ग) नवनीत, तुम अपनी मृदुता पर मत फूलो, तुम्हारे समान सज्जनों के हृदय विद्यमान हैं।

४. (क) तो मुख ऐसो पङ्कज, अरु शशाङ्क यह बात।
वरनहिं शठ अशङ्क कवि, बुद्धि-रङ्क विख्यात॥
—काव्यकल्पद्रुम

(ख) दान माँझ तरुराज अरु, मान माँझ कुरुराज।
नृप जसवन्त तो सम कहत, ते कवि निपट निकाज॥
—कविराजा मुरारिदान

५. (क) याको प्रताप जस लोक पकास है ही।
हैं वे वृथा करत चित्त जवै जवै ही।
धातॉ पभाकर निसाकर के तबै ही,
रेखा करै चहुँघे मंडले ब्याज तै ही॥

(ख) हे राजन्! आपके दानी हाथ जब हैं, तब चिन्तामणि, कल्पवृक्ष और कामधेनु की क्या आवश्यकता है।

प्रतीप के सभी प्रकारों में उपमान का तिरस्कार होता है और उसके द्वारा उपमेय की उपमान के साथ समता ही प्रकारान्तर से कही जाती है।

उपमान जो प्राचीन समय में प्रसिद्ध थे, अब वे उतने मान्य नहीं रहे। इसलिये जैसे उपमा के प्रकरण में पहले बताया गया है

१. मक्खन। २. कमल। ३. चन्द्रमा। ४. निर्भय। ५. बुद्धिहीन। ६. में। ७. वृक्षों का राजा अर्थात् कल्पवृक्ष। ८. दुर्योधन। ९. निकम्मे। १०. ब्रह्मा। ११. सूर्य। १२. चन्द्रमा। १३. चारों ओर। १४. सूर्य और चन्द्रमा के चारों ओर कभी कभी दिखाई देने वाली गोलाकार रेखा।

यहाँ 'साकेत' नगरी की स्वर्ग से समता के साथ उससे उत्कर्ष भी बताया गया है। उसमे यहाँ सरयू—जो जीवितों को भी तार देती है—विशेष गुण है। स्वर्ग मे गङ्गा तो है पर वह केवल मरों को तारती है। अतः उपमेय मे उपमान की अपेक्षा उत्कर्ष बताये जाने से यहाँ 'व्यतिरेक' अलङ्कार है।

अन्य उदाहरण—

१. सिय-मुख सरद-कमल जिमि, किमि कहि जाय?
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसोय[1]।
—बरवै रामायण

२. गिरा[2] मुखर, तनु अरध भवानी,
रति अति-दुखित अतनु पति जानी।
विष वारुणी बन्धु प्रिय जेही,
कहिय रमा सम किमि वैदेही।

३. जन्म सिन्धु पुनि बन्धु विष, दिन मलीन सकलङ्क।
सिय मुख समता पाव किमि चन्द वापुरो[3] रङ्क[4]।
—रामचरितमानस

४. नवविधु-विमल तात! जस तोरा, रघुवर किंकर कुमुद चकोरा।
उदित सदा अथइय कबहूँ ना, घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना।

५. यह अहे-निसि[5] विकसित रहै, वह निसि में कुम्हिलाय।
याते तो मुख कमल सों, कहो-'कहो किमि जाय'।
—राम-सतसई

१. खिला रहता है। २. सीता की समता भगवती सरस्वती से कैसे की जाय क्योंकि वह मुखर हैं अधिक बोलनेवाली हैं। पार्वती भी समान नहीं हो सकतीं, क्योंकि उनका शरीर आधा ही है। रति भी नहीं क्योंकि वह अपने पति को अङ्गहीन (अनङ्ग) समझ सदा दुःखी रहती है। लक्ष्मी भी समान नहीं क्योंकि उसके बन्धु विष और वारुणी—शराब हैं। सीता जी में ये बुरी बातें नहीं हैं। ३. बेचारा। ४ दीन। ५. दिन-रात।

यहाँ 'साकेत' नगरी की स्वर्ग से समता के साथ उससे उत्कर्ष भी बताया गया है। उसमे यहाँ सरयू—जो जीवितों को भी तार देती है—विशेष गुण है। स्वर्ग मे गङ्गा तो है पर वह केवल मरों को तारती है। अतः उपमेय मे उपमान की अपेक्षा उत्कर्ष बताये जाने से यहाँ 'व्यतिरेक' अलङ्कार है।

अन्य उदाहरण—

१. सिय-मुख सरद-कमल जिमि, किमि कहि जाय[१]
निसि मलीन वह, निसि दिन यह विगसाय।
—बरवै रामायण

२ गिरा मुखर, तनु अरध भवानी,
रति अति-दुखित अतनु पति जानी।
विष वारुणी बन्धु प्रिय जेही,
कहिय रमा सम किमि वैदेही।[२]

३. जन्म सिन्धु पुनि बन्धु विष, दिन मलीन सकलङ्क।
सिय मुख समता पाव किमि चन्द बापुरो[३] रङ्क[४]।
—रामचरितमानस

४. नवविधु-विमल तात! जस तोरा, रघुवर किंकर कुमुद चकोरा।
उदित सदा अथइय कबहूँ ना, घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना।

५. यह अहे-निसि[५] विकसित रहै, वह निसि में कुम्हिलाय।
याते तो मुख कमल सों, कहो-'कहो किमि जाय'।
—राम-सतसई

---

१. खिला रहता है। २. सीता की समता भगवती सरस्वती से कैसे की जाय क्योंकि वह मुखर हैं अधिक बोलनेवाली हैं। पार्वती भी समान नहीं हो सकतीं, क्योंकि उनका शरीर आधा ही है। रति भी नहीं क्योंकि वह अपने पति को अङ्गहीन (अनङ्ग) समझ सदा दुःखी रहती है। लक्ष्मी भी समान नहीं क्योंकि उसके बन्धु विष और वारुणी—शराब हैं। सीता जी में ये बुरी बातें नहीं हैं। ३. बेचारा। ४. दीन। ५ दिन-रात।

'चन्द्रमा को देखकर मुख की याद आ जाती है।' यहाँ स्मरण सदृश वस्तु को देखकर हुआ है। अतः यह स्मरण अलङ्कार का विषय है।

उदाहरण—

जो होता है उदित नभ में कौमुदी कान्त आके,
या जो कोई कुसुम विकसा देख पाती कहीं हूँ।
लोने लोने हरित दल के पादपों को विलोके,
प्यारा प्यारा विकच मुखड़ा है मुझे याद आता।

—प्रियप्रवास

यहाँ चन्द्रमा, खिला हुआ फूल और श्याम वर्ण पत्तों वाले वृक्ष को देखने से कृष्ण के मुख के याद आने का वर्णन होने से 'स्मरण' अलङ्कार है।

अन्य उदाहरण—

१. मकरालय-मरजाद लखि सुधि आवत श्रीराम।

२. प्राची दिसि ससि उगेहु सुहावा,
सिय-मुख-सरिस देखि सुख पावा।

—रामचरितमानस

३. नीला प्यारा उदक सरि का देखके एक स्यामा,
बोली खिला विपुल चन के गोपाङ्गना से।
कालिन्दी का पुलिन मुझ को उन्मना है बनाता,
प्यारो-न्यी जलद-तन की मूर्ति है याद आती।

—प्रियप्रवास

९. रूपक

जहाँ उपमेय को कहकर उसमें उपमान का अभेद आरोपित-कल्पित हो, वहाँ 'रूपक' अलङ्कार होता है।

---

१. चन्द्रमा। २. खिला हुआ। ३. समुद्र ४. मर्यादा, मर्यादा का पालन ५. जल ६. नदी ७ सुन्दरी ८. यमुना ९. अनमनी १०. मेघ के समान शरीर वाले अर्थात् कृष्ण।

रके भी और कभी कभी 'रूपी' शब्द जोड़कर 'मुखरूपी चन्द्र' स प्रकार भी। इनमें समास का रूप अधिक आता है।

अत्यन्त समानता के कारण उपमेय मे उपमान का अभेद ारोपित किया जाता है। परन्तु यहाँ न समान धर्म का ग्रहण होता और न वाचक शब्द का ही।

यह तीन प्रकार का होता है—१. निरङ्ग, २. साङ्ग और . परम्परित।

निरङ्ग रूपक

जहाँ उपमेय में अन्य अङ्गों के विना उपमान का आरोप ो, वहाँ निरङ्ग रूपक होता है।

निरङ्ग शब्द का अर्थ है—अङ्गरहित। इसमे उपमेय के अङ्गों ां उपमान के अङ्गों का आरोप नहीं होता। केवल अङ्गी उपमेय में प्रङ्गी उपमान का ही आरोप होता है। अङ्गों का आरोप न होने े इसे निरङ्ग कहते हैं। इसे 'निरवयव' भी कहते हैं।

पूर्वोक्त 'मुख चन्द्रमा है' उदाहरण में मुख मे चन्द्रमा का आरोप किया गया है। मुख उपमेय के अङ्गों मे उपमान के अङ्गों का आरोप नहीं हुआ। अतः यह निरङ्ग-रूपक है।

उदाहरण—

कठिन जेठ की दोपहरी में तप्त धूलि में सन,
कृषक-तपस्वी तप करते हैं तप से स्वेदित तन।

—कादम्बिनी

यहाँ कृषक उपमेय मे 'तपस्वी' उपमान का आरोप किया ाया है और वह आरोप अङ्गों में नहीं किया गया। अतः यहाँ निरङ्ग-रूपक है।

यहाँ कृषक उपमेय और तपस्वी उपमान—दोनों का ग्रहण किया गया है। कृषक का ज्ञान भी यहाँ होता है तथा उसमें 'तपस्वी'

एक प्रधान उपमेय में और उसके अन्य अङ्गों में भी आरोप किया गया हो, वहाँ 'साङ्ग-रूपक' होता है।

यहाँ अङ्गी (प्रधान) में उसके अङ्गों के साथ आरोप होता है, अतः इसे साङ्ग कहते हैं। इसे 'सावयव' भी कहते हैं।

यहाँ पर अङ्ग से तात्पर्य हस्त आदि के समान अङ्गों से ही नहीं है, अपितु सापेक्ष अर्थात् एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों से है। उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी।

उदाहरण—

बीती विभावरी, जाग री,
अम्बर-पनघट में डुबा रही,
तारा-घट ऊषा-नागरी।[1]

—जयशङ्करप्रसाद (प्रात काल)

यहाँ अम्बर मे पनघट, तारे मे घड़े और उषा में नागरी—विदग्ध सुन्दरी—का आरोप किया गया है। ये आरोप परस्पर सम्बन्ध रखते हैं, क्योंकि प्रातःकाल का वर्णन है; उसमें आकाश, तारे और उषा का वर्णन अवश्य होगा। इनमे ही आरोप किया गया है। अतः यह 'साङ्ग-रूपक' है।

दूसरा उदाहरण—

अब प्रकृति-नटी की रङ्ग-भूमि सज गई खूब है मन भाई।
है शशि की किरणों ने उस पर चाँदनी-चाँदनी फैलाई।

—कादम्बिनी

यहाँ चाँदनी का वर्णन करते हुए कवि ने वनस्थल में उसे फैली देखकर प्रकृति मे नटी का और चाँदनी में चाँदनी—बिछाने की चद्दर—का आरोप किया है। प्रकृति और चाँदनी तथा नटी

१. रात बीत गई है, जागो! आकाश-रूपी पनघट पर उषा-रूपी सुन्दरी तारा-रूपी घड़ा डुबा रही है अर्थात् उषःकाल हो गया है और तारे डूब रहे हैं।

ौर चाँदनी परस्पर सम्बन्ध रखने वाली वस्तु हैं। प्रकृति-नटी
पने नाटक को दिखाने के लिये प्राकृतिक ही चद्दर बिछायेगी।
ङ प्रकार दो आरोपों के सापेक्ष होने से यहाँ भी 'साङ्ग-रूपक' है।

साङ्ग के भी दो भेद होते हैं—१ समस्त-वस्तु-विषय और
. एकदेशविवर्ति।

समस्तवस्तुविषय वहाँ होता है जहाँ आरोप्यमाण
जिसका आरोप किया जाता है) और आरोप-विषय (जिसमें
आरोप किया जाता है) का शब्द से कथन किया गया हो।

एकदेशविवर्ति वहाँ होता है जहाँ साङ्ग-रूपक मे कुछ आरोप
के विषय अङ्गों का और उनके आरोप्यमाणों का शब्द से कथन हो
तथा कुछ का आक्षेप से ज्ञान हो।

उपर्युक्त दो उदाहरणों मे प्रथम मे समस्तवस्तु-विषय है और
दूसरे में एकदेशविवर्ति। प्रथम उदाहरण में सभी आरोप्यमाण और
आरोप-विषयों का शब्द के द्वारा कथन है। पर दूसरे उदाहरण में
रङ्ग-भूमि उपमान तो कहा गया है पर 'वनस्थली' रूप आरोप-विषय
का शब्द से कथन नहीं हुआ, शेष प्रकृति में नटी और चाँदनी में
चाँदनी के आरोप का शब्द से कथन हुआ है, इसलिये एकदेशविवर्ति है।

'तिमिर है निशि का मलिन दुकूल' मे भी तिमिर में मलिन
दुकूल का आरोप शाब्द है, पर निशा मे सुन्दरी का आर्थ। इस-
लिये एकदेशविवर्ति है।

समस्तवस्तु-विषय का शब्दार्थ है समस्त वस्तु अर्थात् सभी
आरोप-विषय और आरोप्यमाण जहाँ विषय हों अर्थात् वर्णन में
आ गये हों।

एकदेशविवर्ति का शब्दार्थ है—एकदेश अर्थात् एक
अवयव में विवर्ति अर्थात् स्फुट रूप से वर्तमान। स्फुटता शब्द के
द्वारा प्रतिपादन में ही होती है।

समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्ति का बहुत सूक्ष्म अन्तर है। इतना सूक्ष्म विचार किये बिना इनका समझना अत्यन्त कठिन है। अतः इस सूक्ष्म अन्तर को अच्छी तरह हृदयङ्गम कर लेना चाहिये।

अन्य उदाहरण—

१. समरस्थल कुसुमित कानन बना गन्धवाहन[1] है वाहन[2],
है अति सुन्दर सुमन[3]-शरासन[4] हुङ्कार मधुर अलि[5]-गुञ्जन;
विश्व-विजय के हो अवतार, हे कुसुमाकर[6] शोभागार।

—कादम्बिनी

२. आत्मज्ञान की नाव में बैठा हूँ सानन्द।
भव-सागर में घूमता फिरता हूँ स्वच्छन्द।
पूछते हो क्या मेरा नाम ?

—श्रीबदरीनाथ भट्ट (जीवनमुक्त)

३ प्रथम यौवन मेरा मधुमास[7],
मुग्ध[8] उर[9] मधुकर[10], तुम मधु[11] प्राण।
शयन[12] लोचन[13] सुधि[14] स्वप्न-विलास, मधुर तन्द्रा[15] प्रिय-ध्यान।
शून्य जीवन निसङ्ग आकाश, इन्दु मुख इन्दु समान।
हृदय सरसी[16] छवि पद्म[17] विकास, स्पृहायें ऊर्मिल[18] गान।

—पल्लव

४ स्वार्थ-समीर[19] चली ऐसी, सब सुमन[20]-सुमन[21] बिखराये।
हा सद्भाव-सुगन्धि चुराई, प्रेम-प्रदीप बुझाये।

—श्रीबदरीनाथ भट्ट

---

१. वायु। २ सवारी। ३ फूल। ४. धनुष। ५. भौंरे। ६. वसन्त। ७. चैत्र मास। ८. भोला। ९. हृदय। १०. भौंरा। ११. फूलों का रस। १२. विस्तर। १३. आँखें। १४. स्मरण। १५. मीठी नींद। १६. तालाब। १७. कमल। १८ बढ़ा हुआ। १९ आँधी। २०. भले लोग। २१ फूल।

५. खो देती उर की वीणा झङ्कार मधुर जीवन की।
वस साँसों के तारों में सोती स्मृति सूनेपन की।

६. संसार है एक अरण्य भारी, हुए जहाँ हैं हम मार्गचारी।
जो कर्मरूपी न कुठार होगा, तो कौन निष्कण्टक पार होगा।

—श्रीमैथिलीशरण गुप्त

७. पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाउ।
तरि संसार-पयोधि कौ, हरि नावैं करि नाउँ।

—बिहारी

परम्परित

जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का हेतु हो वहाँ 'परम्परित' रूपक होता है।

परम्परित शब्द का अर्थ है—परम्परा जिसमें हो गई हो और परम्परा का अर्थ है पंक्ति, सिलसिला। यहाँ एक आरोप करने पर उसके लिये दूसरा आरोप भी आवश्यकतावश करना पड़ता है अर्थात् आरोपों की परम्परा-सी बन जाती है।

जैसे—'तुलसीदास जी हिन्दी-साहित्य-गगन के चन्द्र हैं' यहाँ तुलसीदास जी में चन्द्रमा का आरोप किया गया, उसके लिये हिन्दी-साहित्य में आकाश का आरोप करना पड़ा अर्थात् तुलसीदास जी में चन्द्रमा के आरोप का हिन्दी-साहित्य में आकाश का आरोप निमित्त है, अतः यहाँ आरोपों की परम्परा होने से परम्परित रूपक है।

इसके दो भेद हैं—१. श्लिष्ट परम्परित और २. अश्लिष्ट परम्परित।

श्लिष्ट परम्परित—वहाँ होता है जहाँ समर्थक रूप से विवक्षित आरोप श्लेषमूलक होता है।

१. पथिक-अनुसारि। २. चप्पू। ३. समुद्र। ४. नाम। ५. नौका।

श्लेष का अर्थ है—एक शब्द के अनेक अर्थों की अभिधा के द्वारा प्रतीति। श्लेष भी अलङ्कार है, इसका निरूपण आगे विशेष रूप से किया जायगा। यहाँ इतना ही समझ लेना पर्याप्त है।

जैसे—'शङ्कर-मानस-राजमराला' अर्थात् भगवान् रामचन्द्र शङ्कर भगवान् के मन-रूपी मानसरोवर के राजहंस हैं। यहाँ रामचन्द्रजी मे राजहंस का आरोप किया गया है और उसके लिये शङ्कर जी के मन मे मानसरोवर का आरोप करना पड़ा है। मन में मानसरोवर का आरोप 'मानस' पद के श्लेष से हुआ है। 'मानस' शब्द श्लिष्ट है। इसके दो अर्थ हैं—मन और मानसरोवर। अतः श्लिष्ट पद के द्वारा होने से यहाँ 'श्लिष्ट-परम्परित' है।

अश्लिष्ट-परम्परित—विना श्लिष्ट पदों के प्रयोग के होता है। 'तुलसीदास हिन्दी साहित्य-गगन के चन्द्रमा हैं' यह पूर्वोक्त उदाहरण अश्लिष्ट-परम्परित का है। इसमें विना श्लिष्ट पदों के एक आरोप के लिये दूसरा आरोप करना पड़ा है।

उदाहरण—(श्लिष्ट-परम्परित)

अङ्गद तुही वालि-कर वालक। उपजेउ वंश-अनल कुलघालक।

यहाँ उपमेय अङ्गद में 'अनल' आग का आरोप किया गया है, परन्तु यह आरोप तव तक नहीं वन सकता जव तक वंश में—कुल में, वंश का—वाँस का (जिसमें आग पैदा होती है) आरोप न किया जाय। क्योंकि 'आग' वाँस से पैदा होती है। जिस उपमेय को यहाँ 'आग' वताया गया है, वह वाँस से पैदा नहीं हुआ। इसलिये उसमें 'अनल' के आरोप की सिद्धि के लिये वंश—कुल में वंश का—वाँस का आरोप किया गया है अर्थात् कुल को ही अनल का उत्पन्न करने वाला वाँस मान लिया है। इस प्रकार उपमेय में अनल के आरोप का कारण वंश मे वंश का आरोप है और वह

आरोप श्लेष के कारण है, क्योंकि 'वंश' पद मे श्लेष है। इसलिये यहाँ 'श्लिष्ट-परम्परित रूपक' है।

उदाहरण अश्लिष्ट-परम्परित—

(क) हृदय-नभ-तारा बन छवि धाम।
प्रिये, अब सार्थक करो स्वनाम।
—गुञ्जन

यहाँ प्रेयसी उपमेय मे 'तारा' का आरोप किया गया है। पर तारा तो आकाश मे ही होता है। इसलिये हृदय मे आकाश का आरोप किया गया है। इसके विना प्रेयसी मे तारा का आरोप सिद्ध नहीं हो सकता। अतः हृदय मे आकाश का आरोप प्रेयसी मे तारा के आरोप का निमित्त होने से यहाँ 'परम्परित रूपक' है। श्लेष के विना होने से यह अश्लिष्ट है।

(ख) जग-नाटक के सूत्राधार, अहे प्रेम जग-जीवन सार।
—कादम्बिनी

यहाँ 'प्रेम' उपमेय मे सूत्रधार—(जो नाटक का मुख्य पात्र होता है) का आरोप किया गया है। उसके लिये संसार मे नाटक का आरोप किया गया। विना इसके प्रेम मे सूत्रधार का आरोप बन नहीं सकता। अतः यहाँ भी पूर्ववत् 'अश्लिष्ट-परम्परित रूपक' है।

अन्य उदाहरण—

१. सुनु दीन-मानस-हंस, रघुवंश के अवतंस।
मन मॉहि जो अति नेहु, एक वस्तु मॉगहि देहु।
—रामचन्द्रिका

२. दल्यौ अहिंसा-अस्त्र लै, दु रा-दनुज करि युद्ध।
अजय-मोह-गज केसरी, जयतु तथागत बुद्ध।
—वीर-सतसई

३. भव-जल में मैं कमल हूँ, भव-घन में आदित्य।
भव-घट-मठ में व्योम हूँ, अद्भुत, अक्षर, नित्य।

—श्रीबदरीनाथ भट्ट

४. दुख हैं जीवन-तरु के फूल।
५. क्यों न लें दृग-चकोर पहचान, कहेगा कौन उन्हें नादान।
कला[1] मुख-कलानाथ[2] की मान, हो रहे उस पर मुग्ध महान॥
६ हो दिनमणि विद्रोह-तिमिर के, हो शशि शान्ति-सुधा-भाजन।
हो दुर्भाव-विपिन दावानल, हो तुम दुःख-शोक-मोचन।

—कादम्बिनी

उपर्युक्त उदाहरणों में आरोप्यमाण और आरोप-विषय का समास में ही प्रायः प्रयोग आया है। इसलिये यह समझ न लेना चाहिये कि समास के विना यह होता ही नहीं। कभी कभी आरोप-विषय उपमेय के आगे विभक्ति चिह्न 'का, के, की' जोडकर भी आरोप किया जाता है। ऐसे स्थलों पर 'का, के, की' का अभेद अर्थ ही होता है।

व्यस्त रूपक

जब समास के विना ही विभक्तिचिह्न 'का, के, की' जोडकर उपमेय में उपमान का आरोप किया गया हो, तब उसे व्यस्त-रूपक कहते हैं।

उदाहरण—

१ जीवन की चचल सरिता[3] में फेंकी मैंने मन की जाली।
फँस गईं मनोहर भावों की मछलियाँ सुघर भोली-भाली।

—गुञ्जन

---

१. कला का आरोप मुस्कान में किया गया है। २. चन्द्रमा। ३ नदी।

यहाँ जीवन में चञ्चल सरिता का, मन में जाली का और भावों में मछलियों का आरोप किया गया है। पर यह आरोप बिना समास के और विभक्ति चिह्न 'की' के प्रयोग के साथ हुआ है। अतः यह 'व्यस्त-रूपक' है।

वैसे यह साङ्ग-रूपक है क्योंकि ये आरोप परस्पर सम्बन्ध रखते हैं।

कभी कभी समस्त और व्यस्त दोनों प्रकार के रूपक एक ही पद्य में आ जाते हैं। जैसे—

> खेलने लगा सुन्दर शशि-शिशु
> मणि-खचित गगन के आँगन में।
>
> —श्रीगोपालशरण सिंह

यहाँ 'शशि-शिशु' समस्त और 'गगन के आँगन' व्यस्त-रूपक है। क्योंकि शशि में शिशु का आरोप समास में है और गगन में आँगन का बिना समास के ही। तारों में मणि का आर्थ आरोप किया गया है।

कभी कभी उपमेय के साथ समानतावाचक 'सा' आदि शब्द देकर भी उपमान का आरोप किया जाता है, ऐसे स्थलों में भी रूपक ही समझना चाहिये। जैसे—

> किन्तु बेटा, तुम-सा सुधांशु मेरी गोद में,
> सब, निज कुल छूट दूंगी मैं विनोद में।
>
> —यशोधरा

यशोधरा की राहुल के प्रति उक्ति है—'तुम्हारे जैसा तुम्हीं चन्द्रमा-मेरी गोद में है।' कहने का तात्पर्य यही है कि तुम और चन्द्रमा अभिन्न हो। यहाँ उपमेय में उपमान चन्द्रमा का आरोप ही किया गया है। इसलिये न यहाँ उपमा है और न प्रतीप ही।

में 'सा' आदि वाचक शब्दों के रहते हुए भी इस प्रकार आरोप होता है। अतः ऐसे स्थलों में भी रूपक ही समझना चाहिये।

'आप जैसे बृहस्पति के होने से ही यह सभा इन्द्र-सभा कही जाती है'

यहाँ भी उपर्युक्त प्रकार से 'आप' में बृहस्पति का आरोप किया गया है। 'जैसा' आदि शब्द ऐसे स्थलों मे अभेद को ही प्रकट करते हैं।

इस रूपक अलङ्कार का प्रयोग प्राचीन काल से लेकर अब तक बहुत अधिक होता आ रहा है। हिन्दी-काव्य की नवीनतर धारा भी रूपक अलङ्कार से बहुत अधिक अलङ्कृत है। 'रहस्यवाद' के लिये 'रूपक' परम उपकारक है।

रूपक के अन्य प्रकार के भेद

इन भेदों के अतिरिक्त रूपक के अर्थ के विचार से अन्य प्रकार के दो और भेद किये जाते हैं—१. अभेद और २. तद्रूप। अभेद-रूपक मे उपमेय और उपमान मे अभेद का वर्णन होता है। पूर्वोक्त उदाहरण अभेद-रूपक के हैं। इनमे उपमेय और उपमान का अभेद वर्णन किया गया है। तद्रूप-रूपक में उपमेय मे उपमान का अभेद तो नहीं होता पर तद्रूपता (उसी का रूप) होती है। 'मुख दूसरा चन्द्रमा है' यहाँ मुख मे चन्द्रमा का आरोप तो है पर उनका भेद भी स्पष्ट है, तद्रूपता का वर्णन है। अतः यह तद्रूप-रूपक है। तद्रूप-रूपक में अन्य, दूसरा आदि शब्दों का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त फिर इन दो भेदों के सम, न्यून और अधिक ये तीन तीन भेद होते हैं। 'मुख चन्द्रमा है' और 'मुख दूसरा चन्द्रमा है' यहाँ सम 'मुख पृथ्वी का चन्द्र है' और 'मुख पृथ्वी का दूसरा चन्द्र है' यहाँ न्यून तथा 'मुख सदा शोभायुक्त चन्द्र है' और 'मुख सदा शोभायुक्त दूसरा चन्द्र है' यहाँ अधिक रूपक है। इसी प्रकार ये भेद बनते हैं। इस प्रकार के भेद करने में अधिक चमत्कार न होने से इनका सविस्तर वर्णन यहाँ नहीं किया जाता।

१०. उल्लेख

जहाँ एक ही वस्तु का अनेक प्रकार से उल्लेख—वर्णन हो वहाँ 'उल्लेख अलङ्कार' होता है।

इसके दो प्रकार हैं—१. जब एक ही वस्तु को किसी कारण अनेक व्यक्तियों के द्वारा अनेक प्रकार से देखा, समझा या वर्णन किया जाय, २. जब एक ही वस्तु के एक ही व्यक्ति के द्वारा विषय-भेद से अनेक प्रकार से देखने और समझने का वर्णन हो।

प्रथम उल्लेख

वह गङ्गा मुझे कल्याण दे, जिसे मनुष्य अच्छी गति देने वाली, देवता अपनी नदी, सिद्ध लोग उत्तम सिद्धि देने वाली और मुनि लोग भगवान् का शरीर समझते हैं।

यहाँ एक ही भगवती गङ्गा को मनुष्य आदि अनेक व्यक्तियों के द्वारा अनेक प्रकार से समझा गया है। अतः 'प्रथम उल्लेख' है।

दूसरा उदाहरण—

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन देखी तैसी॥
देखहिं भूप महा-रनधीरा। मनहुँ वीर रस धरे शरीरा॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी॥
रहे असुर छल छोनिपँ-वेषा। तिन प्रभु प्रगट काल-सम देखा॥

---

१ कै बहुतै कै एक जहँ, एक वस्तु को देखि।
बहु विधि करि उल्लेख हैं, सो उल्लेख उलेख॥

—भूषण

२. छोनिप—राजा। राक्षस लोग राजाओं का वेष बनाकर सीता के स्वयम्बर की सभा में आये हुए थे।

विदुषन प्रभु विराटमय दीसा। बहु-मुख-कर-पग-लोचन-सीसा॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सज्जन सगे प्रिय लागहिं जैसे॥

—रामचरितमानस

यहाँ एक रामचन्द्र जी का अनेक व्यक्तियों के द्वारा अनेक प्रकार से देखने का वर्णन होने से 'उल्लेख' है।

द्वितीय उल्लेख

'राजन्, तुम्हारी चित्तवृत्ति भी अनेकरूप है, 'दीन जनों पर दयामयी, शत्रुओं पर निर्दय, धर्म के विषय में लोभमयी और धन के विषय में लोभरहित है' यहाँ एक ही व्यक्ति के द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों के कारण एक ही चित्तवृत्ति का भिन्न-भिन्न रूप में समझना वर्णन किया गया है। अतः 'उल्लेख' अलङ्कार है।

दूसरा उदाहरण—

तू रूप है किरन में, सौन्दर्य है सुमन में,
तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में,
तू ज्ञान हिन्दुओं में, ईमान मुस्लिमों में,
तू प्रेम क्रिश्चियन में, है सत्य तू सुजन में।

—श्रीरामनरेश त्रिपाठी

यहाँ एक परमात्मा का विषय-भेद से एक ही व्यक्ति के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में समझने का उल्लेख किया गया है। अतः 'उल्लेख' अलंकार है।

यह ध्यान रहे कि उल्लेख के पहले भेद में अनेक व्यक्ति ग्रहण करने वाले होते हैं और निरङ्ग-माला-रूपक में एक ही व्यक्ति ग्रहण करने वाला होता है, इसलिये पहले भेद से तो माला-रूपक का अन्तर निश्चित है।

दूसरे भेद में जब आरोप का प्रकार न होगा, जैसे गद्य में दिये हुए उदाहरण में, तब भी उल्लेख माला-रूपक से पृथक् ही

प्रतीत होगा। परन्तु जहाँ आरोप का रूप भी होगा वहाँ रूपक और उल्लेख दोनों कहे जायँगे। जैसे 'तू रूप है किरण में' इस उदाहरण में ईश्वर में किरण के रूप आदि का आरोप भी है और उसका विषय-भेद से अनेक प्रकार से उल्लेख भी है, अतः रूपक और उल्लेख दोनों का यहाँ सङ्कर है।

इस प्रकार उल्लेख अलङ्कार शुद्ध रूप मे भी मिलता है और सङ्कीर्ण भी अर्थात् अन्य अलङ्कारों से मिला हुआ भी।

नीचे भ्रान्ति से मिला हुआ उल्लेख का उदाहरण दिया जाता है—

तेरा सहास मुख देख मिलिन्द आते,
वे मान फुल्ल अरविन्द प्रमोद पाते।
ये देख, आलि! शशि के भ्रम दौड़ दौड़,
हैं चंचु शब्द करते फिरते चकोर।

यहाँ भौंरे और चकोरों ने मुख को कमल और चन्द्र समझ लिया है। इसमे भ्रान्ति भी है और उल्लेख भी।

अन्य अलङ्कारों से भी यह सङ्कीर्ण मिलता है, विस्तारभय से उनको यहाँ छोड़ दिया जाता है। अब केवल कुछ उदाहरण यहाँ 'उल्लेख' के दिये जाते हैं।

१. गज-रक्षक वृद्धान ने, युवतिन ने श्रीकान्त,
असुर-तियन ने हरि लखे, रिसियाने नरकान्त[1]।

२. टका बाप अरु माय टका भैयन को भैया,
टका सास अरु ससुर, टका सिर लाड़ लड़ैया।
—बेताल कवि

३. सच्चा प्यारा सकल ब्रज का, वंश का है उजाला।
दीनों का है परम धन औ वृद्ध का नैन-तारा।

१ नरक राक्षस के अन्त करने वाले भगवान् विष्णु।

वालाओं का प्रिय स्वजन औ बन्धु है वालकों का।
ले जाते हैं सु-रतन कहाँ आप ऐसा हमारा?

—प्रियप्रवास

४ पशुओं के विश्राम-सदन हो, वन-विहगों के क्रीड़ा स्थल।
शोभागार सरस सुमनों के, हो चञ्चल पर अटल अचल।
शैलों के सुन्दर परिधान[1], हे कानन[2]! कल-कान्ति-निधान[3]।

५. सरल वालकों का क्रीड़ा स्थल, जगती के कृपकों का प्राण।
मानवता का प्रेम-निकेतन, आदि सभ्यता का इतिहास।
भ्रातृभाव-समता-क्षमता का तू है अवनी में अधिवास।
छिपा व्योम में लघु तारा-सा तू है अपने में ही लीन।
लोल लोल लहरों से लोलित विश्व-वारिधी का है मीन।

—श्रीगोपालशरणसिंह-(ग्राम)

११. अपह्नुति

जहाँ उपमेय में निषेध-पूर्वक उपमान के अभेद का आरोप किया जाय, वहाँ 'अपह्नुति' अलङ्कार होता है।[4]

अपह्नुति शब्द का अर्थ है—छिपाना। छिपाने का अर्थ निषेध करना ही है। उपमेय को इसमें छिपाया जाता है और साथ ही उसको उपमान ही मान लिया जाता है। रूपक में भी उपमेय को उपमान समझ लिया जाता है, पर वहाँ उपमेय का निषेध नहीं किया जाता। यही इनका अन्तर है।

जैसे—'यह मुख नहीं, चन्द्रमा है' यहाँ उपमेय मुख का

१ वस्त्र। २ वन। ३. सुन्दर कान्ति के खजाने।
४. 'आन वात आरोपिये साँची वात छिपाय' भूषण।
अन्य–उपमान। सची वात–उपमेय

निषेध कर उसमे उपमान चन्द्रमा के अभेद का आरोप किया गया है, अतः यहाँ 'अपह्नुति' है।

अपह्नुति के भेद

निषेध के अनेक रूप होने से अपह्नुति के भी अनेक भेद ते हैं। निषेध के दो रूप हैं—१. 'नहीं' आदि शब्दों के द्वारा कथन र २. कैतव छल आदि छल के पर्याय-वाचक शब्दों के द्वारा ञ्जना से बोधन। इन दो प्रकारों से अपह्नुति के दो भेद हैं— . शुद्ध और २. कैतव। शुद्ध में निषेध का 'नहीं' आदि शब्दों के द्वारा कथन होता है और कैतव मे 'कैतव और छल' आदि शब्दों के द्वारा।

शुद्ध के भी शैली-भेद से चार भेद होते हैं—१. शुद्ध, २. हेतु, ३. पर्यस्त, और ४. छेक।

शुद्ध-अपह्नुति

अपह्नुति का जो सामान्य लक्षण है, वही शुद्ध का लक्षण है। इसी के लक्षण में थोडा सा हेर-फेर कर देने से अन्य चार के लक्षण बन जाते हैं जैसा कि आगे के लक्षणों से प्रकट होगा।

शुद्ध-अपह्नुति का उदाहरण—

नहिं बद्दल, दलबलु यहै, तडित न यह किरवान।
नहिं घन गरजत गहगहे, बाजत तुमुल निशान।
—वीर-सतसई

अर्थात् ये बादल नही हैं, अपितु सेना हैं। बिजली नहीं यह तलवार है। ये बादल नहीं गरज रहे, ये तो युद्ध के नगाड़े बज रहे हैं। यहाँ बादल का निषेध कर सेना का, बिजली का निषेध कर तलवार का, बादलों के गरजने का निषेध कर युद्ध के बाजो के अभेद का आरोप उनमे किया गया है, अतः यहाँ 'शुद्ध-अपह्नुति' है।

कर अन्य किसी वस्तु में उसी धर्म का होना वर्णन किया जाय, वहाँ 'पर्यस्त-अपह्नुति होती है।

पर्यस्त शब्द का अर्थ है—फेंका हुआ। यहाँ धर्म को उसके वास्तविक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर फेंक-सा दिया जाता है।

जैसे—'यह चन्द्रमा नहीं, चन्द्रमा तो मुख है' यहाँ-चन्द्रत्व धर्म का वास्तविक चन्द्रमा-स्थल से निषेध कर अन्य स्थल 'मुख' में आरोप किया गया है। अतः 'पर्यस्त-अपह्नुति' है।

उसी प्रकार—'मित्र मित्र नहीं, मित्र तो ग्रन्थ हैं' यहाँ मित्रता धर्म का मित्र रूप वास्तविक स्थल से निषेध कर अन्य वस्तु ग्रन्थ मे आरोप करने से 'पर्यस्त-अपह्नुति' है।

उदाहरण—

हालाहल विष नहिं, रमा विष है यह सच बात।
हालाहल पिय हर जगें, या संग हरि दिनरात॥

अर्थात् विष विष नहीं, विष तो लक्ष्मी है क्योंकि विष पीकर शङ्कर भगवान् तो जाग रहे हैं और लक्ष्मी को पाकर ही विष्णु भगवान् सो रहे हैं।

यहाँ विष के धर्म विषत्व—घातकता—का विष में निषेध कर 'लक्ष्मी' मे आरोप किया गया है। अतः यहाँ 'पर्यस्त-अपह्नुति' है।

इस पर्यस्त-अपह्नुति मे जिस वस्तु के धर्म का निषेध किया जाता है, उसका वाचक शब्द कई बार आता है। पहले उदाहरण में दो बार और दूसरे में तीन बार आया है।

अन्य उदाहरण—

१. है न सुधा यह, है सुधा वास्तव मे सत्संग।
२. मीन में नहि प्रीति सजनी, चातकहि नहि प्रेम।
एक मति गति एक व्रत, यह भरत ही में नेम।
३ नहीं सक्र सुरपति अहै, सुरपति नन्दकुमार।

कहीं कहीं वस्तु का ही निषेध कर उसका अन्य वस्तु में आरोप किया जाता है, जैसे—'है न सुधा यह है, सुधा वास्तव में सत्संग' यहाँ भी 'धर्म' के निषेध और आरोप का अभिप्राय है। सुधा का धर्म जिलाना या आनन्द देना है, उसका सुधा में निषेध कर 'सत्सङ्ग' में आरोप किया गया है। यह अन्य—उपमेय—के उत्कर्ष को सिद्ध करने के लिये ही किया जाता है।

कहीं कहीं इसमें हेतु का भी उल्लेख कर दिया जाता है। जैसे—'हालाहल विष—' आदि उदाहरण में। कहीं नहीं भी किया जाता। जैसे—'है न सुधा यह—' इस उदाहरण में।

छेक-अपह्नुति

जहाँ गोपनीय बात को किसी प्रकार प्रकट होने पर अन्य बात कहकर छिपाया जाय, वहाँ 'छेक-अपह्नुति' होती है।

छेक का अर्थ है—विदग्ध, चतुर। यहाँ प्रकट हुई बात को चतुरता से छिपाया जाता है। चतुर व्यक्ति ही ऐसा कर सकता है। इसलिये विदग्ध लोगों के द्वारा ही इसका प्रयोग होने से इसे 'छेक-अपह्नुति' कहा जाता है।

यहाँ सत्य बात के प्रकट होने पर दूसरे के सामने मुकर जाना पड़ता है, अतएव इसे 'मुकरी' या 'कह-मुकरी' भी कहते हैं। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि 'अमीर खुसरो' की मुकरियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। वे सब छेकापह्नुति के उदाहरण हैं।

उदाहरण—

शोभा सदा बढ़ावन-हारा, आँखिन ते छिन करूँ न न्यारा।
आठ पहर मेरा मन-रञ्जन, 'क्यों सखि! साजन?' ना सखि! अंजन'।

नायिका अपनी किसी अन्तरङ्ग सखी से अपने अनुराग का वर्णन कर रही है—'वह सदा शोभा बढ़ाने वाला है, मैं उसे

आँखों से कभी दूर नहीं होने देती अर्थात् उसे सदा अपने पास ही रखती हूँ, वह आठों पहर मेरे मन को आनन्द देता है।' किसी अन्य व्यक्ति ने उसका अभिप्राय समझ लिया और पूछा—'क्या तुम अपने प्रियतम की बात कर रही हो?' वह रहस्य को प्रकट होते देख झट बात बदलकर उत्तर देती है कि—'मैं तो अञ्जन की बात कर रही हूँ।' अञ्जन की ओर भी ये सब बातें संगत हो जाती हैं क्योंकि वह भी सदा शोभा बढ़ाता है, आँखों से अलग नहीं किया जाता और मन को अनुरञ्जित भी करता है।

प्रियतम की बात गोपनीय थी, वह प्रकट हो गई, उसे असत्य कहकर छिपा दिया गया। यहाँ प्रकट होती बात से अर्थात् सत्य-बात से 'मुकर जाना' हुआ। अतः 'छेकापह्नुति' या 'मुकरी' है।

दूसरा उदाहरण—

वह आवे तब शादी होय, उस बिन दूजा और न कोय।
मीठे लागें वाके बोल, 'ऐ सखि! साजन?' ना सखि! ढोल'।

—अमीरखुसरो

यहाँ गोपनीय प्रियतम की सत्य बात का प्रकट होने पर 'ढोल' की असत्य बात कहकर निषेध किया गया है। अतः यहाँ 'छेकापह्नुति' है।

इसी प्रकार—

पर गुण को गाते रहते हैं, दोष किसी का नहिं कहते हैं।
निज कुल को करते मण्डित हैं, 'क्यों सखि! सुरगण?' नहि सखि! पण्डित

यहाँ भी छेकापह्नुति है।

वास्तव में यहाँ सत्य-बात को छिपाने का तात्पर्य नहीं होता अपितु इस प्रकार उक्ति में चमत्कार लाने का उद्देश्य रहता है। अतएव न तो यहाँ कोई बात गोपनीय होती है और न उसे छिपाने से ही तात्पर्य होता है।

कैतव-अपह्नुति

जहाँ कैतव आदि छल के वाचक शब्दों के प्रयोग से निषेध किया जाय, वहाँ 'कैतवापह्नुति' होती है।

कैतव का अर्थ है छल। छल के वाचक शब्दों का इसमें प्रयोग होता है, इसलिये इसे 'कैतव' नाम से कहा जाता है।

उदाहरण के लिये—'मुख के बहाने से चन्द्रमा चमक रहा है' अर्थात् यह मुख नहीं, चन्द्रमा चमक रहा है, यहाँ 'मुख' का निषेध छल के वाचक 'बहाना' शब्द से किया गया है। अतः यहाँ 'कैतवापह्नुति' है।

छल आदि शब्दों के स्थल मे निषेध अर्थात् निकलता है, आर्थ रहता है और 'नहीं' आदि के स्थल मे वाच्य। छल, कपट, व्याज, मिष आदि शब्द छल-वाचक हैं।

उदाहरण—

लखो नरेस बात यह साँची, तिय-मिस मीचु सीस पर नाची।

—रामचरितमानस

अर्थात् राजा दशरथ को यह निश्चय हो गया कि स्त्री (कैकेयी) के बहाने यह मृत्यु सिर पर नाच रही है। तात्पर्य यह है कि 'यह (कैकेयी) स्त्री नहीं, अपितु मृत्यु है'।

यहाँ 'मिस' शब्द के द्वारा निषेध होने से 'कैतवापह्नुति' है।

अन्य उदाहरण—

१ विकलता लखके व्रज-देवि की रजनि भी करती अनुताप थी,
निपट नीरव हो मिस ओस के नयन से गिरता बहु वारि था।

—प्रियप्रवास

२. श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे,
सब शोक अपना भूल कर करतल युगल मलने लगे।

मुख बाल-रवि-सम लाल होकर ज्वाल-सा बोधित हुआ,
प्रलयार्थ उसके मिस वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ ?

—जयद्रथ

३. न जाने, सौरभ के मिस कौन ? संदेशा मुझे भेजता मौन ?

—श्रीसुमित्रानन्दन पन्त (मौन-निमन्त्रण)

४. प्रिये कलि कुसुम-कुसुम में आज, मधुरिमा मधु सुखमा सुविकास
तुम्हारी रोम-रोम छवि-व्याज, छा गया मधुवन में मधुमास

—गु

५. एक सुखद सुन्दर भूधर पर, अरमानों के फूल खिले हैं,
ओस-बिन्दु-मिस प्राण झर रहे, कलियों में मृदु-हास मिले हैं।

—मानमी

१२. निश्चय

जहाँ किसी वस्तु में अन्य वस्तु का भ्रम होने पर उसे दूर करने के लिये उसका निषेध कर सच्ची बात कही जाय वहाँ 'निश्चय' अलङ्कार होता है।

इसमें भ्रम को दूर करने के लिये वास्तविक बात का कथन होता है, अतएव इसे 'तत्त्वाख्यानोपमा' भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें तत्त्व—सत्य—का कथन होता है।

जैसे—'यह मुख है, चन्द्रमा नहीं, चकोर ! तुम क्यों व्यर्थ इधर चक्कर काट रहे हो' यहाँ चकोर को मुख में चन्द्रमा का भ्रम हुआ है उसका यहाँ निषेध किया गया है। अतः यहाँ 'निश्चय' अलङ्कार है।

उदाहरण—

कह प्रभु हँसि-जनि हृदय डेराहू, लूक न असनि केतु नहिं राहू।
ये किरीट दसकन्धर-केरे, आवत बालि-तनय के प्रेरे'।

—रामचरितमानस

अंगद के फेंके हुए रावण के मुकुटों को आते देखकर वानरों को उल्का, वज्र, केतु और राहु का भ्रम हुआ। उसका सत्य बात कहकर यहाँ निवारण किया गया है।

अन्य उदाहरण—

(क) बेसर-मोती-दुति-झलक, परी अधर पर आय।
चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पट पोंछयो जाय।
—बिहारी

(ख) हैं गर्जते घन, नहीं बजते नगारे।
विद्युल्लता चमकती, न कृपाण-जाल है।
धारा, नहीं बरसती यह बाण-धारा।
आई घटा, यह नहीं शिवराज-सेना।

१३. सन्देह

जहाँ प्रकृत (उपमेय) और अप्रकृत (उपमान) के विषय में सुन्दर सन्देह का वर्णन हो, वहाँ 'सन्देह' अलङ्कार होता है।

सन्देह एक प्रकार का ज्ञान है, इसमें निश्चय नहीं होता। इसमें अनेक विषय होते हैं और उनमें बराबर बल होता है तथा विरोध भी भासित होता है।

जैसे—'वह पण्डित है कि मूर्ख'। यहाँ ज्ञान अनिश्चय रूप है। इसमें 'पण्डित' और 'मूर्ख' दो विषय हैं। निश्चय न होने से दोनों में बराबर बल है—एक ओर बुद्धि झुकती नहीं और इनमें विरोध भी मालूम पड़ता है, क्योंकि जो पण्डित है वह मूर्ख नहीं हो सकता और जो मूर्ख है वह पण्डित नहीं।

इसी प्रकार—'वह आयगा कि नहीं, यहाँ अनिश्चय है। अतः एक 'आना' और दूसरा 'न आना' ये दो विषय हैं, इनमें बराबर बल भी है तथा 'आना' और 'न आना' में विरोध भी है।

उदाहरणों में कवि ने अपना सन्देह प्रकट किया है, वह कल्पित है क्योंकि कवि को तो सत्य बात का पता है, वह उसे चमत्कृत करने के लिये सन्देह की कल्पना करता है। कवि का अपना सन्देह कल्पित होता है और जब वह दूसरों के सन्देह का वर्णन करता है तब वह प्रायः वास्तविक होता है।

अन्य उदाहरण—

१ कोई पुरन्दर की किङ्करी है कि या किसी सुर की सुन्दरी है?
वियोगतप्ता-सी भोगमुक्ता हृदय के उद्गार गा रही है।

२ अन्धकार पर इतना प्यार!
क्या जाने यह बालक का अविचार?
बुद्ध का या कि साम्य व्यवहार!

—निराला (प्रपात के प्रति)

३. क्या शुभ्रहासिनी शरद-घटा अवनी पर आकर है छाई!
अथवा गिरकर नभ से कोई सुरबाला हुई धराशायी!

—कादम्बिनी (चाँदनी)

४ तिमिर!—यह क्या विश्व का उन्माद है, जो छिपाता है प्रकृति के रूप को
या किसी की यह विनोरव आह है, खोजती है जो प्रलय की रात को!
या किसी के प्रेम-वञ्चित-पलक की मूक जड़ता है? पवन में विचर कर
पूछती है जो सितारों से सतत—'प्रिय तुम्हारी नींद किसने छीन ली!
यह किसी के रुदन का सूखा हुआ सिन्धु है क्या? जो दुखों की बाढ़ में
सृष्टि को सना डुबाने के लिये उमड़ता है एक नीरव-लहर में।

—गुञ्जन

इन उदाहरणों में सन्देह कवि-कल्पित है।

१४. भ्रम

जहाँ किसी सदृश वस्तु (उपमेय) में अन्य वस्तु (उपमान) के सुन्दर और कल्पित (मिथ्या) निश्चय का वर्णन हो, वहाँ भ्रम अलङ्कार होता है।

संक्षेप से यों कह सकते हैं—जहाँ सादृश्य के कारण किसी वस्तु को अन्य वस्तु समझ लिया जाय और उसमें चमत्कार भी हो, ऐसे वर्णन में 'भ्रम' अलङ्कार होता है। इसे 'भ्रान्ति' भी कहते हैं।[1]

मिथ्या-ज्ञान को भ्रम कहते हैं। पागलपन से भी वह होता है, उसमें भी वह अन्य वस्तु को अन्य वस्तु समझ लिया जाता है। पर वह शुद्ध भ्रम है, वह भ्रम इस अलङ्कार का विषय नहीं।

रस्सी को साँप भी कई बार समझ लिया जाता है। वह भ्रम सादृश्य के कारण है, क्योंकि रस्सी और साँप में परस्पर सादृश्य है। यह ज्ञान निश्चयरूप भी है, क्योंकि रस्सी को साँप समझने वाला तत्काल भागता भी है, यदि रस्सी में साँप का ज्ञान निश्चयरूप न हो तो भागना आदि व्यापार नहीं हो सकते। रस्सी का उस ज्ञान में ज़रा भी भान नहीं होता, यदि होता तो भागना आदि हो ही नहीं सकता। अतएव यह सादृश्यमूलक भ्रम है।

पर यह भी अलङ्कार का विषय नहीं, क्योंकि इसमें चमत्कार नहीं। चमत्कार ही अलङ्कार सामान्य का प्राण है। अतः चमत्कार न होने से रस्सी को सांप समझने के वर्णन में यह अलङ्कार नहीं होता।

इसी प्रकार धूप में चमकती हुई सीपी को चांदी .. ग्रहण करने के वर्णन में भी यह अलङ्कार नहीं होगा।

---

१. 'भ्रान्ति और को और ही, निश्चय जब अनुमान।
तुव सँग फिरत चकोर है, वदन सुधानिधि जान॥
—काव्य-प्रभाकर

१५. उत्प्रेक्षा

जहाँ प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुत वस्तु की सम्भावना का वर्णन हो, वहाँ 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार होता है।

उत्प्रेक्षा मे सम्भावना होती है। सम्भावना का अर्थ पहले समझ लेना आवश्यक है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ ज्ञान मे वस्तु को अपने ही रूप में समझा जाता है। इसे सत्य ज्ञान भी कहते हैं, यह एक ही प्रकार का होता है। सत्य होता ही एक है। अयथार्थ ज्ञान झूठा ज्ञान होता है। इसमे अन्य वस्तु को अन्य समझ लिया जाता है। झूठ के अनेक रूप होते हैं, अतः अयथार्थ ज्ञान के भी अनेक रूप हैं—भ्रम, संशय, आरोप और सम्भावना।

भ्रम मे अन्य वस्तु को तत्सदृश अन्य वस्तु समझ लिया जाता है, यह निश्चयरूप होता है। जिस वस्तु मे अन्य वस्तु का भान होता है, उसका अपना भान होता ही नहीं। मुख को चन्द्रमा समझने में जब ज्ञाता को मुख का ज्ञान न होगा, केवल चन्द्रमा का ही होगा, तब यह 'ज्ञान' भ्रम कहा जायगा। इसे इसी लिये विरुद्धकोटिक ज्ञान कहते हैं, क्योंकि इस ज्ञान में केवल विरुद्ध कोटि का ही भान होता है, सत्य कोटि का नहीं।

संशय मे दोनों का भान होता है और दोनों समबल होते हैं, किसी का भी पक्ष झुका नहीं होता, ज्ञान की दोनों कोटियाँ ठीक तोल के समय तराजू के पलड़े के जैसे बराबर रहती हैं। 'मुख है कि चन्द्र' इस प्रकार का ज्ञान सन्देह होता है इसमे मुख के विषय मे निश्चय नहीं, मुख और चन्द्र दोनों का इसके विषय मे है और वह भी सम-बल, कोई पक्ष हीन-बल नहीं अतएव इसे उभयकोटिक ज्ञान कहते हैं।

आरोप उस ज्ञान को कहते हैं जिसमे सत्य वस्तु का ज्ञान रहते हुए उसे तत्सदृश अन्य वस्तु समझ लिया जाता है। जब मुख का ज्ञान होते हुए उसे चन्द्रमा रूप से समझा जाता है, तब उस ज्ञान को आरोप कहा जाता है। यह काल्पनिक होता है और निश्चयरूप भी। मुख के विषय में चन्द्रमा का ज्ञान काल्पनिक भी होता है और निश्चयरूप भी। भ्रम में निश्चय तो होता है, पर वह काल्पनिक नहीं होता, वहाँ तो अन्य वस्तु को सचमुच अन्य समझ लिया जाता है। सत्य पक्ष का उसमें भान ही नहीं होता।

सम्भावना भी कल्पना ही होती है। इसमे भी दोनों पक्षों का ज्ञान रहता है। मुख का भी ज्ञान होता है और उसमें चन्द्रमा का भी ज्ञान होता है। पर इसमें विरुद्ध पक्ष कुछ प्रबल रहता है, अतएव यह सन्देह से भिन्न है। सन्देह मे दोनों पक्ष सम-बल होते हैं। 'मुख मानो चन्द्रमा है' यहाँ सम्भावना है। इसमें मुख और चन्द्रमा दोनों का भान हो रहा है, पर चन्द्रमा का पक्ष कुछ अधिक प्रबल है। इसलिये दोनों पक्षों में समबल रहने वाला सन्देह यह नहीं है। दोनों पक्षों का ज्ञान होने से केवल एक पक्ष वाले भ्रम से भी यह भिन्न है। आरोप से भी यह भिन्न है, क्योंकि आरोप में विरुद्ध पक्ष बहुत प्रबल रहता है और इसमें कम। मुख का ज्ञान रहते हुए भी मुख को सर्वथा चन्द्रमा समझ लेना आरोप है पर यहाँ सर्वथा नहीं समझा जाता। हाँ, कुछ ज़ोर उस पक्ष मे रहता है।

इतना समझ लेने के अनन्तर यह जान लेना चाहिये कि भ्रम से भ्रम, सन्देह से सन्देह, आरोप से रूपक और सम्भावना से उत्प्रेक्षा अलङ्कार बनते हैं, यदि ये चमत्कारपूर्ण हों।

भ्रम, सन्देह, आरोप और सम्भावना के परस्पर भेद को हृदयङ्गम करने से इन चारों के द्वारा सिद्ध होने वाले भ्रम, सन्देह, रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कारों का परस्पर अन्तर सुगम हो जाता है।

१५. उत्प्रेक्षा

जहाँ प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुत वस्तु की सम्भावना का वर्णन हो, वहाँ 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार होता है।

उत्प्रेक्षा मे सम्भावना होती है। सम्भावना का अर्थ पहले समझ लेना आवश्यक है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ ज्ञान मे वस्तु को अपने ही रूप में समझा जाता है। इसे सत्य ज्ञान भी कहते हैं, यह एक ही प्रकार का होता है। सत्य होता ही एक है। अयथार्थ ज्ञान झूठा ज्ञान होता है। इसमें अन्य वस्तु को अन्य समझ लिया जाता है। झूठ के अनेक रूप होते हैं, अतः अयथार्थ ज्ञान के भी अनेक रूप हैं—भ्रम, संशय, आरोप और सम्भावना।

भ्रम मे अन्य वस्तु को तत्सदृश अन्य वस्तु समझ लिया जाता है, यह निश्चयरूप होता है। जिस वस्तु मे अन्य वस्तु का भान होता है, उसका अपना भान होता ही नहीं। मुख को चन्द्रमा समझने मे जब ज्ञाता को मुख का ज्ञान न होगा, केवल चन्द्रमा का ही होगा, तब यह 'ज्ञान' भ्रम कहा जायगा। इसे इसी लिये विरुद्धकोटिक ज्ञान कहते हैं, क्योंकि इस ज्ञान मे केवल विरुद्ध कोटि का ही भान होता है, सत्य कोटि का नही।

संशय मे दोनों का भान होता है और दोनों समबल होते हैं, किसी का भी पक्ष झुका नहीं होता, ज्ञान की दोनों कोटियाँ ठीक तोल के समय तराजू के पलड़े के जैसे बराबर रहती हैं। 'मुख है कि चन्द्र' इस प्रकार का ज्ञान सन्देह होता है। इसमें मुख के विषय में निश्चय नहीं, मुख और चन्द्र दोनों का ज्ञान उसके विषय मे है और वह भी सम-बल, कोई पक्ष हीन-बल नहीं। अतएव इसे उभयकोटिक ज्ञान कहते हैं।

आरोप उस ज्ञान को कहते हैं जिसमे सत्य वस्तु का ज्ञान रहते हुए उसे तत्सदृश अन्य वस्तु समझ लिया जाता है। जब मुख का ज्ञान होते हुए उसे चन्द्रमा रूप से समझा जाता है, तब उस ज्ञान को आरोप कहा जाता है। यह काल्पनिक होता है और निश्चयरूप भी। मुख के विषय मे चन्द्रमा का ज्ञान काल्पनिक भी होता है और निश्चयरूप भी। भ्रम मे निश्चय तो होता है, पर वह काल्पनिक नहीं होता, वहाँ तो अन्य वस्तु को सचमुच अन्य समझ लिया जाता है। सत्य पक्ष का उसमे भान ही नहीं होता।

सम्भावना भी कल्पना ही होती है। इसमे भी दोनों पक्षों ज्ञान रहता है। मुख का भी ज्ञान होता है और उसमे चन्द्रमा का भी ज्ञान होता है। पर इसमें विरुद्ध पक्ष कुछ प्रबल रहता है, अतएव यह सन्देह से भिन्न है। सन्देह मे दोनों पक्ष सम-बल होते हैं। 'मुख मानो चन्द्रमा है' यहाँ सम्भावना है। इसमें मुख और चन्द्रमा दोनों का भान हो रहा है, पर चन्द्रमा का पक्ष कुछ अधिक प्रबल है। इसलिये दोनों पक्षों मे समबल रहने वाला सन्देह यह नहीं है। दोनों पक्षों का ज्ञान होने से केवल एक पक्ष वाले भ्रम से भी यह भिन्न है। आरोप से भी यह भिन्न है, क्योंकि आरोप मे विरुद्ध पक्ष बहुत प्रबल रहता है और इसमे कम। मुख का ज्ञान रहते हुए भी मुख को सर्वथा चन्द्रमा समझ लेना आरोप है पर यहाँ सर्वथा नहीं समझा जाता। हाँ, कुछ ज़ोर उस पक्ष में रहता है।

इतना समझ लेने के अनन्तर यह जान लेना चाहिये कि भ्रम से भ्रम, सन्देह से सन्देह, आरोप से रूपक और सम्भावना से उत्प्रेक्षा अलङ्कार बनते हैं, यदि ये चमत्कारपूर्ण हों।

भ्रम, सन्देह, आरोप और सम्भावना के परस्पर भेद को हृदयङ्गम करने से इन चारों के द्वारा सिद्ध होने वाले भ्रम, सन्देह, रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कारों का परस्पर अन्तर सुगम हो जाता है।

उत्प्रेक्षा तीन प्रकार की होती है—वस्तु, हेतु और फल।

वस्तूत्प्रेक्षा

जब प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुत वस्तु की अर्थात् उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाय, तब 'वस्तूत्प्रेक्षा' होती है।

इसमें कभी तो वस्तु में वस्तु की ही साक्षात् सम्भावना की जाती है और कभी वस्तु के धर्म में अन्य वस्तु के धर्म की। जैसे—'मुख मानों चन्द्रमा है' यहाँ 'मुख' उपमेय में 'चन्द्रमा' उपमान की सम्भावना की गई है। जब मधुर वचन बोलते हुए मुख को यह कहा जाय कि 'मुख से अमृत बरस रहा है या फूल झड़ रहे हैं' तब मुख के धर्म—मधुर बोलने—में अमृत बरसना या फूल झड़ना धर्म की सम्भावना की गई है।

वस्तु के स्वरूप की उत्प्रेक्षा होने से इसे 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' भी कहते हैं।

हेतूत्प्रेक्षा

जहाँ अहेतु में हेतु की सम्भावना की जाय, वहाँ हेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है।

जैसे 'मुख हँस रहा है, क्योंकि उसने चन्द्रमा को सुन्दरता में परास्त कर दिया है' यहाँ मुख की हँसी स्वाभाविक है, उसका हेतु चन्द्रमा को परास्त करना नहीं, पर फिर भी उसे मान लिया गया है। अतः यहाँ 'हेतूत्प्रेक्षा' है।

फलोत्प्रेक्षा

जहाँ अफल में फल की सम्भावना की जाय, वहाँ 'फलोत्प्रेक्षा' होती है।

जैसे—'मुख की समता प्राप्त करने के लिये कमल जल में तप कर रहा है' यहाँ कमल का जल में रहना स्वाभाविक है, उसके रहने

का यह उद्देश्य नहीं कि वह सुख की समता प्राप्त करे, पर यहाँ उसे उद्देश्य मान लिया गया है। अतः 'फलोत्प्रेक्षा' है।

हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा मे अन्तर

हेतूत्प्रेक्षा मे अहेतु में हेतु की और फलोत्प्रेक्षा में अफल में फल की सम्भावना होती है। इनके अन्तर को स्पष्ट करने के लिये हेतु और फल का अन्तर समझ लेना चाहिये। हेतु—कारण या निमित्त—को कहते हैं और फल उद्देश्य को। यदि क्रिया किसी कारण से की जा रही हो तो वह कारण हेतु होगा और यदि किसी उद्देश्य से तो वह उद्देश्य फल होगा। 'मैं अपनी इच्छा से पढ़ रहा हूँ' में इच्छा पढ़ना क्रिया का निमित्त है, अतः यह हेतु है। 'मैं पास होने के लिये पढ़ रहा हूँ' यहाँ पढ़ना क्रिया पास होने के उद्देश्य से की जा रही है, अतः 'पास होना' पढ़ना क्रिया का फल है।

तात्पर्य यह है कि हेतु क्रिया के पहले वर्तमान होता है और जो क्रिया के अनन्तर सिद्ध होता है, वह फल होता है। उपर्युक्त उदाहरण में पढ़ना क्रिया के पहले होने से 'इच्छा' उसका हेतु है और 'पास होना' पढ़ना क्रिया के बाद होता है, अतः यह फल है।

हेतु और फल के अन्तर को इस प्रकार अच्छी तरह हृदयङ्गम करने पर उत्प्रेक्षा के स्थल में परीक्षा करके हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा का निर्णय करना चाहिये।

'मुख हँस रहा है क्योंकि उसने चन्द्रमा को परास्त कर लिया है' यहाँ 'चन्द्रमा को परास्त करना' मुख की हँसना क्रिया के पहले है। पहले वह परास्त होगा, तब हँसी सिद्ध होगी। अतः यह हँसना क्रिया का हेतु है। अतएव यहाँ हेतूत्प्रेक्षा है।

'मुख की समता प्राप्त करने के लिये कमल जल में तप कर रहा है' यहाँ क्रिया है 'जल मे तप करना'। 'मुख की समता की प्राप्ति'

उसका उद्देश्य है और वह तप करने के बाद ही होगी। अतः उद्देश्य होने तथा क्रिया के बाद होने से यह फल है। अतएव यहाँ 'फलोत्प्रेक्षा' है।

अब उत्प्रेक्षा के इन तीनों भेदों के उदाहरण क्रमशः समन्वय-पूर्वक दिये जाते हैं—

वस्तूत्प्रेक्षा—

१ देखूँ उसे मैं नित बार बार, मानों मिला मित्र मुझे पुराना।

—श्रीगिरिधरशर्मा नवरत्न

यहाँ ग्रन्थ मे पुराने मित्र की सम्भावना की गई है। अतः उपमेय मे उपमान की सम्भावना होने से 'वस्तूत्प्रेक्षा' है।

२. शोभित नील असीन[1] पर, रुधिर बिन्दु कुस जाल।
तसै तमाल-लतान पै, मनहुँ वधूटी-माल॥

—वीर-सतसई

यहाँ नीली तलवार पर लगी हुई रक्त की छोटी छोटी बूँदों मे तमाल पर बैठी वीरबहूटियों की सम्भावना की गई है। तलवार और तमाल दोनों नीले होते हैं और रक्त की बूँदें तथा वीरबहूटियाँ लाल। अतः उपमेय मे उपमान की सम्भावना होने से यहाँ 'वस्तूत्प्रेक्षा' हुई।

३ वहीं शुभ्र सरिता के तट पर कुटिया का कङ्काल पड़ा है।
मानों बाँसों में घुन बनकर शत शत हाहाकार खड़ा है॥

—मानसी

यहाँ घुनों मे 'हाहाकार' की सम्भावना का वर्णन होने से 'वस्तूत्प्रेक्षा' है।

---

१. तलवार।

अन्य उदाहरण—

१. नभ के नक्षत्रों-से जिसकी दीवारों पर छेद जये हैं।
पीड़ा के, स्मृति के, जड़ता के मानो बिखरे बीज पड़े हैं॥
—मानसी

२. निशान्त[1] के साथ निशेश[2] भी चला
मानों मही[3] के सिर से टली बला।
—प्रियप्रवास

३. फूल गये सर काँस बुढ़ापा पावस पै छाया
खिलने लगी कपास शीत का शत्रु हाथ आया।
—श्रीनाथूराम शङ्कर

हेतूत्प्रेक्षा—

१. सभीत हो दाघ-निदाघ[4] से मनो
नहीं गिरा थी तजती स्व-सद्म को।
—प्रियप्रवास

ग्रीष्म-काल का वर्णन है। प्रचण्ड गर्मी के कारण लोग चुपचाप हैं, उनके मुख से शब्द नहीं निकल रहे। उनके मुख से शब्द न निकलने का हेतु वास्तव में ग्रीष्म की गर्मी नहीं, परन्तु उसे यहाँ हेतु बताया गया है, वाणी भी गर्मी के डर से अपने घर मुख को नहीं छोड़ रही। अतः यहाँ निदाघ की गर्मी जो हेतु नहीं इसमें हेतु की सम्भावना होने से 'हेतूत्प्रेक्षा' है।

२. विनत शुक-नासा का धर ध्यान,
बन गये पुष्प पलाश अराले[5]।
—गुञ्जन

१. उषाकाल। २. चन्द्रमा। ३. पृथ्वी। ४. ग्रीष्म की गर्मी। ५. वक्र, टेढ़े।

२. निश्चय ही पिनाक ने सपाप नष्ट
राम-कर-तीर्थ पा शरीर निज
३. दुवनै-सदन सब के वदनै, सिव सिव
निज वचिवे को जपत जनु, तुरको

इन तीनों उत्प्रेक्षाओं में जब ...
होता है, तब वह वाच्योत्प्रेक्षा कही जाती है । ...
शब्द हैं—मनु, मानो, जनु, जानो, मानहुँ, ...
आदि । उपर्युक्त उदाहरणों में जहाँ वाचक
वाच्योत्प्रेक्षा है ।

लुप्तोत्प्रेक्षा

जहाँ उत्प्रेक्षा की अन्य सामग्री हो, पर
शब्द का कथन न हो, वहाँ 'लुप्तोत्प्रेक्षा' होती है
फलोत्प्रेक्षा के प्रथम उदाहरण में वाचक ...
नहीं है । अतः वहाँ 'लुप्तोत्प्रेक्षा' है ।

१. लतिकाएँ यौवन-मद-माती, लज्जा से झुक झुक

—...

यहाँ लताओं के स्वाभाविक झुकने का ...
गया है । अतः यहाँ अहेतु में हेतु की संभावना
होने से 'लुप्त-हेतूत्प्रेक्षा' है ।

२ कण्ठ जब रुँधता है तब कुछ रोती हूँ
होंगे गतजन्म के ही मैल, उन्हें धोती हूँ ।

यहाँ 'रोने' में 'पूर्वजन्म के मैल धोने' की
वाचक शब्द के की गई है । अतः यहाँ लुप्ता 'वस्तूत्प्रे...

१. शिव जी के धनुष का नाम 'पिनाक' है । २. शत्रु

अन्य उदाहरण—

१. दिनमणि[1] की जो किरण दिन[2] में, थी फैली जग के कण कण में।
वे ही जाकर निशि[2] को नभ[3] में, हँसती-सी थी तारागण में।

—कादम्बिनी

२. पल्लव-पाणि हिलाकर देती वृक्षावलियाँ आश्वासन।

—कादम्बिनी

सापह्नव उत्प्रेक्षा

जहाँ प्रकृत का निषेध करके अप्रकृत की सम्भावना की जाय, वहाँ 'सापह्नव उत्प्रेक्षा' होती है।

अपह्नुति के समान प्रकृत का निषेध होने से इसे 'सापह्नव' कहा जाता है।

उदाहरण—

कोहरा नहीं है यह, धूम सलिलानल[4] का।
भानु तापने को आग पानी में लगाते हैं।

—श्रीविश्वनाथप्रसाद मिश्र, साहित्यरत्न

शीतकाल में पानी के ऊपर कोहरा छा जाता है, उसी का यह वर्णन है। कोहरा छाया हुआ है, परन्तु उसे कोहरा न बताकर उत्प्रेक्षा की गई है कि मानों सूर्य भगवान् ने ठंड से घबड़ाकर तापने के लिये पानी में आग लगाई है, उसी का यह धूआँ है। यहाँ 'नहीं है' पद से प्रकृत कोहरे का निषेध किया गया है। अतः यह 'सापह्नव उत्प्रेक्षा' है। यहाँ वाचक शब्द नहीं है। अतः यह 'लुप्तोत्प्रेक्षा' है।

अन्य उदाहरण—

१. नाहिन ये पावक प्रबल, लुएँ चलत चहुँ पास,
मानहुँ बिरह बसन्त के, ग्रीषम लेत उसास।

—बिहारी

---

१. सूर्य। २. रात। ३. आकाश। ४. आग।

२. निश्चय ही पिनाक[1] ने स्वपाप नष्ट करने को
राम-कर-तीर्थ पा शरीर निज छोड़ा है।

३. दुवनै[2]-सदन सब के वदनै[3], सिव सिव आठों याम
निज बचिवे को जपत जनु, तुरकौ हर को नाम।

—भूषण

इन तीनों उत्प्रेक्षाओं में जब उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द का कथन होता है, तब वह वाच्योत्प्रेक्षा कही जाती है। उत्प्रेक्षा के वाचक शब्द हैं—मनु, मानो, जनु, जानो, मानहुँ, जानहु, निश्चय, इन आदि। उपर्युक्त उदाहरणों में जहाँ वाचक शब्द हैं वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा है।

लुप्तोत्प्रेक्षा

जहाँ उत्प्रेक्षा की अन्य सामग्री हो, पर उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द का कथन न हो, वहाँ 'लुप्तोत्प्रेक्षा' होती है।

फलोत्प्रेक्षा के प्रथम उदाहरण में वाचक शब्द का कथन नहीं है। अतः वहाँ 'लुप्तोत्प्रेक्षा' है।

१. लतिकाएँ यौवन-मद-माती, लज्जा से झुक झुक जाती हैं।

—श्रीगोपालशरणसिंह

यहाँ लताओं के स्वाभाविक झुकने का हेतु लज्जा को कहा गया है। अतः यहाँ अहेतु में हेतु की संभावना बिना वाचक के होने से 'लुप्त-हेतूत्प्रेक्षा' है।

२ कण्ठ जब रुँधता है तब कुछ रोती हूँ।
होंगे गतजन्म के ही मैल, उन्हें धोती हूँ।

—यशोधरा

यहाँ 'रोने' में 'पूर्वजन्म के मैल धोने' की सम्भावना बिना वाचक शब्द के की गई है। अतः यहाँ लुप्ता 'वस्तूत्प्रेक्षा' है।

१ शिव जी के धनुष का नाम 'पिनाक' है। २. शत्रु। ३. मुख।

२. छवि-सुधि तजि माथौ पखारि, भरि भरि लोचन नीर।
दृगजल-मिस मानहुँ निकरि, बढ़ो बिरह को धार।

१५. अतिशयोक्ति

जहाँ किसी वस्तु का वर्णन बढ़ा-चढ़ाकर किया जाय, वहाँ 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार होता है।

अतिशयोक्ति का शब्दार्थ है—अतिशय अर्थात् अधिकता की उक्ति—कथन। इसमें जो बात जितनी होती है, उसका उससे बढ़ाकर वर्णन किया जाता है। जैसे—'इस महल के शिखर आकाश को छूते हैं' यहाँ महलों के शिखरों का आकाश को छूने का वर्णन है, पर वास्तव में ऐसा नहीं। वे बहुत अधिक ऊँचे हैं—यह तो ठीक है, पर इतने नहीं कि आकाश को छूते हों। ऊँचाई की अधिकता बताने के लिये 'अतिशयोक्ति' का आश्रय यहाँ लिया गया है।

अतिशय का वर्णन इस अलङ्कार का मूल है। वह कई प्रकार से किया जा सकता है। अतः इसके छः भेद होते हैं—१. रूपकातिशयोक्ति, २. भेदकातिशयोक्ति, ३. सम्बन्धातिशयोक्ति, ४. अक्रमातिशयोक्ति, ५. चपलातिशयोक्ति और ६. अत्यन्तातिशयोक्ति।

इनमें प्रथम रूपकातिशयोक्ति में सादृश्य होता है, अन्तिम पाँचों भेदों में सादृश्य नहीं होता। अन्तिम तीन भेदों में कार्य और कारण के क्रम में अतिशय होता है अर्थात् लोक में जो क्रम इनका है, उसमें अन्तर पड़ जाता है।

१. रूपकातिशयोक्ति

जहाँ उपमान के द्वारा उपमेय के निगरण—निगल जाने—का वर्णन हो अर्थात् उपमेय का कथन न हो, केवल उपमान का उपादान हो, वहाँ 'रूपकातिशयोक्ति' अलङ्कार होता है।

भुजदण्ड यद्यपि वही हैं जैसे लोक में हुआ करते हैं, पर उन की अलौकिकता बताने के लिये उन्हें यहाँ और प्रकार का बताया गया है। अतः यहाँ 'भेदकातिशयोक्ति' है।

२. न्यारी रीति भूतल निहारी सिवराज की।

—भूषण

यद्यपि शिवाजी की रीति वही है जो लोक में होती है, पर उसमें अलौकिकता बताने के लिये उसे 'न्यारी' शब्द के द्वारा भिन्न बताया गया है। अतः 'भेदकातिशयोक्ति' है।

अन्य उदाहरण—

१ वह चितवनि औरै कछू जिहि बस होत सुजान।

—बिहारी

२. उनका बोलने का ढंग ही कुछ और प्रकार का है जिसमें संसार के कल्याण की भावना भरी होती है। उनकी आकृति कुछ ऐसी विलक्षण है, जिसे देखकर दुःखी लोग आनन्दित हो जाते हैं। अधिक क्या कहा जाय, विद्यावान् पुरुषों का सारा चरित्र ही और प्रकार का होता है।

सम्बन्धातिशयोक्ति

जहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध और सम्बन्ध में असम्बन्ध का वर्णन हो, वहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति' होती है।

सम्बन्ध का अर्थ है योग्यता। योग्यता न होने पर भी योग्यता का और योग्यता होने पर भी अयोग्यता का वर्णन इसमें होता है।

उदाहरण—

१. देख लो साकेत नगरी है यही
स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही।
केतु-पट अंचल-सदृश हैं उड़ रहे
कनक-कलशों पर अमर-दृग जुड़ रहे।

—साकेत

अर्थात् यही अयोध्या नगरी है जो स्वर्ग से मिलने आकाश में जा रही है। मकानों के ऊपर की ध्वजाएँ उड़ रही हैं और सोने के कलशों पर देवताओं की आँखे जुड़ रही हैं।

यहाँ अयोध्या नगरी मे स्वर्ग से मिलने का कोई सम्बन्ध न होने पर भी वह वर्णन किया जा रहा है, अतएव 'सम्बन्धातिशयोक्ति' है।

इसी प्रकार सोने के कलशों से देवताओं की आँखों के उलझने के सम्बन्ध का न होने पर भी वर्णन किया जाने से 'सम्बन्धातिशयोक्ति' है।

२. फबि फहरें अति उच्च निसाना, जिन महँ अटकहिं विबुध-विमाना।

यहाँ भी निशानों में देवताओं के विमानों के अटकने का सम्बन्ध न होने पर भी वर्णन किया गया है, अतः 'सम्बन्धातिशयोक्ति' है।

३. विधि हरि हर गुरु कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी।

—रामचरितमानस

अर्थात् सज्जनों की महिमा का वर्णन करने मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, वृहस्पति और साक्षात् भगवती सरस्वती भी सङ्कोच करती हैं अर्थात् अपने को असमर्थ समझती हैं।

यहाँ ब्रह्मा आदि देव-गण में सज्जनों की महिमा के वर्णन करने की शक्ति है, पर उनमें सङ्कोच बताया गया है। योग्यता रहते हुए भी अयोग्यता का वर्णन किया गया है, अतः 'सम्बन्धातिशयोक्ति है।

४. अतिसुन्दर लखि मुख सिय। तेरो।

आदर करत न हम ससि-केरो। —रामचरितमानस

अर्थात् तुम्हारे अतिसुन्दर मुख को देखकर हम चन्द्रमा का आदर नहीं करते।

यहाँ यद्यपि चन्द्रमा के साथ आदर का सम्बन्ध है अर्थात् यह बात नहीं कि सचमुच चन्द्रमा का आदर न हो, तथापि आदर के असम्बन्ध का वर्णन किया गया है, अतः यहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति' है।

सम्बन्ध रहते हुए असम्बन्ध का और असम्बन्ध के रहते हुए सम्बन्ध का वर्णन वर्णनीय वस्तु के उत्कर्ष का बोध कराने के लिये किया जाता है। जैसे उदाहरण—'फवि फहरें' में देवताओं के विमानों का अटकना होता नहीं, पर उसका वर्णन किया गया है, इस बात को बताने के लिये कि ध्वजाएँ बहुत ऊँची हैं। यहाँ वर्णनीय महल की उच्चता का उत्कर्ष बताना अभीष्ट है। इसी प्रकार—'अति सुन्दर—' इस उदाहरण मे चन्द्रमा के साथ आदर का सम्बन्ध रहते हुए भी जो असम्बन्ध बताया गया है, वह वर्णनीय सीता के मुख की सुन्दरता की अधिकता बताने के अभिप्राय से।

इसी प्रकार सर्वत्र 'सम्बन्धातिशयोक्ति' में वर्णनीय वस्तु के उत्कर्ष का बोध करना चाहिये।

अन्य उदाहरण—

१. जो सुख भा सिय-मातु-मन, देखि राम वर-वेस।
सो न सकहि कहि कल्प सत, सहस सारदा सेष।

—रामचरितमानस

२ जलद, गरज कर नाहिं, सुनि मेरो मासिक गरभ,
गुनि मन गजधुनि ताहि, उछलत है मो उदर में।

—काव्य-कल्पद्रुम

अतिशयोक्ति के अग्रिम तीन भेदों में कारण और कार्य के पौर्वापर्य की विलक्षणता का वर्णन होता है। नियम तो यह है कि कारण पहले होता है और कार्य बाद को। कारण और कार्य के इस पौर्वापर्य का भङ्ग यहाँ वर्ण्य वस्तु के उत्कर्ष के लिये किया

जाता है। पौर्वापर्य का भङ्ग तीन प्रकार से होता है। तीनों दशाओं में 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार होता है।

१. कारण और कार्य एक साथ विना व्यवधान के हो जायँ। इसे 'अक्रमातिशयोक्ति' कहते हैं, क्योंकि इसमें कारण और कार्य में क्रम नहीं रह जाता।

२. कारण को सुनने या देखने आदि से ही कार्य हो जाय। इसे 'चपलातिशयोक्ति' कहते हैं, क्योंकि इसमें कार्य इतनी चपलता—शीघ्रता—प्रकट करता है कि कारण के पूर्ण होने की प्रतीक्षा ही नहीं करता।

३. कारण से पहले ही कार्य हो जाय। इसे 'अत्यन्तातिशयोक्ति' कहा जाता है। क्योंकि इसमें अत्यन्त अर्थात् बहुत अधिकता का वर्णन होता है। कार्य का कारण से पहले ही हो जाना अत्यन्त विचित्र बात है।

इनके उदाहरण क्रमशः दिये जाते हैं—

अक्रमातिशयोक्ति—

१. वह शर इधर गाण्डीव-गुण से भिन्न जैसे ही हुआ
धड़ से जयद्रथ का इधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ।

—जयद्रथवध

यहाँ 'बाण का लगना' कारण और 'सिर का धड़ से अलग होना' कार्य के एक साथ होने का वर्णन होने से 'अक्रमातिशयोक्ति' है।

२. अजामील के प्रान, इत निकसे हरिनाम-युत।
उत वह बैठि विमान, तब-लग पहुँच्यौ हरि-सदन।

—भारती-भूषण

यहाँ 'नारायण नाम के उच्चारण के साथ प्राण निकलना' कारण और 'विमान पर बैठ कर स्वर्ग जाना' कार्य का एक काल में होने का वर्णन करने से 'अक्रमातिशयोक्ति' है।

अन्य उदाहरण—

१. सन्धानेउ प्रभु विसिरा कराला, उठी उदधि उर अन्तर ज्वाला।

—रामचरितमानस

२. इत सर सारङ्ग पै चढ़तु, चढ़ि रागतु रण-रागु।
उत अरि-अङ्गना-अङ्ग-ते, उतरतु सहज सुहागु।

—वीर-सतसई

चपलातिशयोक्ति—

१. छुवत टूट रघुपतिहिं न दोषू। मुनि! विनु कारन करिय कत रोषू?

—रामचरितमानस

यहाँ 'धनुष का टूटना' कार्य छूते ही हो गया, कारण के ज्ञानमात्र से हो गया, अतः 'चपलातिशयोक्ति' है।

२. कैकेयी के कहत ही, रामगमन की वात।
नृप दशरथ के ताहि छिन, सूख गये सब गात।

—काव्य-कल्पद्रुम

यहाँ 'राम के वन-गमन की वात के कहने मात्र से दशरथ के शरीर का सूखना कार्य हो गया। अतः 'चपलातिशयोक्ति' है। कारण तो 'वन-गमन' है, वह अभी हुआ ही नहीं, उसकी केवल चर्चा मात्र हुई है।

अन्य उदाहरण—

१. वन्दहुँ गुरुपद-नख-मनि-ज्योती, सुमिरत दिव्य-दृष्टि हिय होती।

२. आयो आयो सुनत ही, सिव सरजा तुव नाँव।
वैरि-नारि-दृग-जलन-सों, वूड़ि जात अरि-गाँव।

—भूषण

---

१. है चपलातिशयोक्ति वह, सुनत हेतु हो काज।
मुन्दरीहू कङ्कन भई, पीय-गमन सुनि आज।

—काव्य-प्रभाकर

अत्यन्तातिशयोक्ति—

१. मृदुल मुकुल-सा मञ्जु मनोहर, शिशु का प्रादुर्भाव हुआ।
उसके पहले ही माता का प्रकट विश्व में प्यार हुआ।
उर से निकल पड़ी पय-धार, अहे प्रेम जग जीवन-सार।

—कादम्बिनी

यहाँ शिशु का जन्म होना' कारण है और 'माता का प्यार औ दूध की धारा निकलना' कार्य। कारण के पहले ही कार्य के हो जा का वर्णन होने से 'अत्यन्तातिशयोक्ति' अलङ्कार है।

२. और बरसने के पहले ही उड़ जाते हैं पानी के घन,
हृदय-समर्पण के पहले ही आँसू हो गिर जाता मन।
यहाँ पङ्ख उगने से पहले ही पक्षी किसी ओर उड़ जाते,
यहाँ धधकने के पहले ही अङ्गारे ठण्डे पड़ जाते।

—मानसी

यहाँ 'बरसना' कारण के पहले ही 'बादलों का उड़ जाना कार्य के हो जाने का वर्णन है। इसी प्रकार 'हृदय-समर्पण' कारण पहले ही 'आँसू हो हृदय का गिर जाना' रूप कार्य का तथा 'पङ्ख उगना कारण के पहले 'पक्षी का उड़ जाना' रूप कार्य का वर्णन होने 'अत्यन्तातिशयोक्ति' है।

यहाँ चारों चरणों में चार अत्यन्तातिशयोक्तियों के होने से माला है।

अन्य उदाहरण—

१. नर दुनिया को देख सके इसलिये आँख थी गई बनाई।
किन्तु देखने से पहले ही उसने दुख की नदी बहाई॥

—मानसी

२. प्रान छुटे प्रथमै रिपु के रघुनायक-सायक छूट न पाये।

३. हनूमान की पूँछ में, लगन न पाई आगि।
लङ्का सिगरी जरि गई, गये निसाचर भागि॥

४. ग्राह-गृहीत-गयंद-मुख, कढन न पाई आहि।
पहले ही हरि आइकै, निज-कर उधारयौ ताहि ॥

१६. तुल्ययोगिता

जहाँ केवल प्रकृत वस्तुओं या केवल अप्रकृत वस्तुओं के गुण और क्रिया आदि रूप एक धर्म से सम्बन्ध का वर्णन हो वहाँ 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार होता है।

तुल्ययोगिता का शब्दार्थ है—तुल्य–समान-से योग-सम्बन्ध का होना। यहाँ एक धर्म से ही अनेक पदार्थों के सम्बन्ध का वर्णन किया जाता है।

जैसे—१. 'मुख और नयन शोभा के आकर हैं' यहाँ मुख और नयन दोनों प्रस्तुत हैं, इनका एक धर्म 'शोभा' से सम्बन्ध का वर्णन किया गया है, अतः 'तुल्ययोगिता' है।

२. 'मुख की शोभा के सामने चन्द्र और कमल निष्प्रभ हो गये' यहाँ चन्द्र और कमल अप्रस्तुत हैं, उन दोनों का एक निष्प्रभता—शोभाहीन होना—धर्म से सम्बन्ध का वर्णन किया गया है, इसलिये तुल्योगिता है।

३ जो नीम को कुल्हाड़े से काटता है, जो उसे शहद और घी से सींचता है तथा जो उसकी गन्ध अक्षत माला आदि से पूजा करता है, उन सब के प्रति वह कड़वा ही रहता है।

यहाँ कुल्हाड़े से काटने वाले, शहद आदि से सींचने वाले और गन्ध अक्षत से पूजा करने वाले के प्रति नीम के कड़वापन रूप एक धर्म का सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता है।

उदाहरण—१. हैं भरी अतुल शोभायें सुन्दर सुरभित उपवन में,
द्रुम-द्रुम में लता-लता में तृण-तृण में सुमन-सुमन में।

—कादम्बिनी

---

१. हाथी।

यहाँ उपवन, वृक्ष, लता, तृण और कुसुम सब प्रस्तुत हैं, क्योंकि उपवन का वर्णन है। उसमें वृक्ष आदि का वर्णन भी होगा ही। अतः एक धर्म 'अतुल शोभा भरा होना' से प्रस्तुत पदार्थों के सम्बन्ध का वर्णन होने से 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार है।

२. खंजन कमल चकोर अलि, जिते मीन मृग ऐन,
क्यों न बड़ाई को लहैं, तरुनि! तिहारे नैन।

यहाँ तरुणी के नेत्र प्रस्तुत हैं, खञ्जन आदि अप्रस्तुत हैं, उन अप्रस्तुतों का 'जिते—परास्त कर दिया' रूप एक धर्म के साथ सम्बन्ध होने से 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार हुआ।

३. तुम सदैव आलोक व्योम का सिर पर धारण करते हो,
पर तुम छाया-लोक हृदय में सदा छिपाये रहते हो।
दोनों प्रिय हैं तुम्हें समान, हे कानन! कल कान्ति-निधान!

—कादम्बिनी

यहाँ आलोक और छाया दोनों का 'प्रिय होना' रूप एक धर्म के साथ सम्बन्ध होने से 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार है।

अन्य उदाहरण—

१. श्री रघुवर के नख चरन, मुख सुखमा-सुख-खान।
लहे चार फल अछत[1] तनु, देउ घरिक[2] धरि ध्यान।

—भाषा-भूषण

२. जग जीवन-सञ्चार अनन्त, है सदैव संसार अनन्त।
सफल-विफल अभिलाष अनन्त, है उर का आभास अनन्त।
हैं जग के सङ्घर्ष अनन्त, जीवन के आदर्श अनन्त।
हैं प्रकर्ष-अपकर्ष अनन्त, हैं सुख-दुख के पर्व अनन्त।
हैं लोचन-जल-धार अनन्त, है पीड़ित संसार अनन्त।

—कादम्बिनी

१. रहते हुए। २. घड़ी एक, एक-आध घड़ी।

३. वन्दौं सन्त समान-चित, हित अनहित नहिं कोय।
अञ्जलि-गत सुभ सुमन जिमि, सम सुगन्ध कर दोय।
—रामचरितमानस

४ कोऊ काटो क्रोध करि, वा सींचो करि नेह।
वेधत वृक्ष बबूल को, तऊ दुहुन की देह।

१७. दीपक

जहाँ एक धर्म के साथ प्रकृत और अप्रकृत वस्तुओं के सम्बन्ध का वर्णन हो, वहाँ 'दीपक' अलङ्कार होता है।

यहाँ प्रकृत वस्तु के लिये धर्म का उपादान होता है, प्रसङ्गवश उससे अप्रकृत पदार्थ भी प्रकाशित हो जाता है, इसलिये इसे 'दीपक' कहते हैं। मकान के प्रकाश के लिये रखा हुआ दीपक मार्ग आदि को भी प्रकाशित कर देता है।

इसमें वर्णन का विषय एक ही होता है, प्रसङ्गवशात् अन्य अप्रस्तुतों का भी वर्णन हो जाता है। प्रकरण देखकर इसमें प्रस्तुत का निर्णय किया जाता है।

जैसे—'मुख और चन्द्रमा दोनों सुन्दर हैं' यहाँ वर्णन का विषय 'मुख' है और 'चन्द्रमा' अप्रस्तुत है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक धर्म सुन्दरता के साथ सम्बन्ध का वर्णन होने से 'दीपक' अलङ्कार है।

उदाहरण—

१. सेवक सठ, नृप कृपण, कुनारी, कपटी मित्र सूल-सम चारी।
—रामचरितमानस

---

१. दीपक वर्ण्य अवर्ण्य को, एकै धर्म समान।
गृह गढ़ गिरि अरु गुनिन को, होय उच्चता मान।
—काव्य-प्रभाकर

यहाँ कपटी मित्र प्रस्तुत है, उसी का वर्णन है। उसके लिये धर्म कहा गया है 'सूल-सम—काँटे के समान होना'। इस एक धर्म के साथ दुष्ट सेवक, कृपण राजा और दुष्ट स्त्री का भी प्रसङ्गवश उपादान होने से अन्वय हो जाता है। अतः यहाँ 'दीपक' अलङ्कार है।

२ कामधेनु और कल्पतरु, चिन्तामणि मन मानि।
चौथो तेरो सुयस हूँ, है मनसा-फल दानि।

यहाँ राजा के वर्णन के प्रसङ्ग में उसका सुयश प्रस्तुत है, उसके लिये 'मनसा-फल-दानि—मन चाहा फल देना' धर्म कहा गया है। उसके साथ प्रसङ्गवश आये हुए कामधेनु, कल्पवृक्ष और चिन्तामणि इन अप्रस्तुतों का भी सम्बन्ध हो जाता है, अतः 'दीपक' अलङ्कार है।

३. बल-गर्वित शिशुपाल यह, अजहूँ जगत सतात।
सती नार निश्चल प्रकृति, परलोकहु सँग जात।

—काव्य-कल्पद्रुम

यहाँ शिशुपाल का वर्णन होने से उसकी प्रकृति प्रस्तुत है। उसके लिये धर्म कहा गया है 'परलोक में साथ जाना'। इसी धर्म के साथ प्रसङ्गवश आये हुए 'पतिव्रता स्त्री' रूप अप्रस्तुत का भी सम्बन्ध हो जाता है। अतः 'दीपक' अलङ्कार है।

जहाँ क्रिया रूप धर्म होता है, वहाँ उसके साथ अनेक कारकों का सम्बन्ध होता है। जैसे—'बल-गर्वित-' इत्यादि उदाहरण में 'परलोकहु सँग जात' यह क्रिया रूप धर्म है। उसके साथ पतिव्रता स्त्री और निश्चल प्रकृति—इन दो कारकों का सम्बन्ध होता है।

जब अनेक क्रियाओं के साथ एक ही कारक का सम्बन्ध होता है, वहाँ धर्म कारक रूप ही समझना चाहिये। उसके लिये 'कारक-दीपक' अलग नाम कुछ आचार्यों ने दिया है। वस्तुतः कारक को ही धर्म मानने से दीपक का ही प्रकार यह हो जाता है।

उदाहरण—

हे राजन्, आप धन का दान करने में, यश का उपार्जन करने में शत्रुओं के दमन करने में और मेरे जैसे लोगों की रक्षा करने में अत्यन्त निपुण हैं।

यहाँ धन का दान करना, यश का उपार्जन करना, शत्रुओं का दमन और रक्षा करना—इन क्रियाओं का 'राजा' रूप एक कारक के साथ सम्बन्ध होने से दीपक अलङ्कार है।

अन्य उदाहरण—

१ मद ते यती कुमन्त्र ते राजा, मान ते ज्ञान, पान ते लाजा।
प्रीति प्रणय बिनु, मद तें गुनी, नासहिं बेगि-नीति अस सुनी।

२ मृत की लेने की इच्छा, कंजूस की देने की इच्छा, सर्प की शान्ति और कुटिल की मैत्री संसार में असंभव है।

३. सुजन परोपकार को, वीर शस्त्र को, कृपण धन को और कुलीन स्त्रियाँ लज्जा को मरने पर ही छोड़ती हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों में प्रकरण के अनुसार प्रस्तुत का निर्णय कर लेना चाहिये। एक इनमें प्रस्तुत होगा और शेष अप्रस्तुत। इस प्रकार दीपक अलङ्कार सिद्ध हो जायगा। और यदि सभी प्रकृत या अप्रकृत सिद्ध होंगे तो 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार ही होगा।

१८. प्रतिवस्तूपमा[1]

जहाँ एक वाक्यार्थ का दूसरे वाक्यार्थ के साथ बिना वाचक शब्द के सादृश्य का वर्णन हो और एक समान धर्म का पृथक् पृथक् शब्दों के द्वारा कथन हो, वहाँ 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार होता है।

---

1 प्रतिवस्तूपम अर्थ सम, जुदे जुदे पद जान।
सोहत भानु प्रताप सों, लसत सूर धनु बान।
—काव्यप्रभाकर

प्रतिवस्तूपमा का शब्दार्थ है—प्रत्येक वस्तु अर्थात् उपमेय और उपमना दोनों के साथ उपमा अर्थात् समान धर्म का कहा जाना। उपमा में समान धर्म का एक ही बार कथन होता है और उसका दोनों—उपमेय और उपमान—से सम्बन्ध रहता है, पर यहाँ साधारण धर्म को दोनों के साथ पृथक्-पृथक् और भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा कहा जाता है।

एक ही धर्म के पृथक्-पृथक् शब्दों के द्वारा पृथक्-पृथक् कथन को 'वस्तु-प्रतिवस्तुभाव' कहते हैं। यह 'वस्तु-प्रतिवस्तु-भाव' ही प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार का मूल है।

जैसे—'मुख को देखकर प्रिय प्रसन्न होता है और चन्द्रमा को देखकर चकोर आनन्द प्राप्त करता है' यहाँ दो वाक्य हैं, दोनों में उपमेयोपमान-भाव है अर्थात् प्रथम वाक्य उपमेय है और द्वितीय उपमान। समानतावाचक शब्द यहाँ कोई नहीं कहा गया। साधारण धर्म 'प्रसन्न होना' एक है और उसे 'प्रसन्न होता है' तथा 'आनन्द प्राप्त करता है' इन दो भिन्न-भिन्न शब्दों से कहा गया है। अतः यहाँ 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार है।

उदाहरण—

१ मुस्कराकर राग मधुमय वह लुटाता था तिमिर-निध,
आँसुओं का क्षार पी मैं बाँटती नित स्नेह-रस।

—श्रीमहादेवी वर्मा

यहाँ पूर्वार्द्ध और उत्तरार्ध क्रमशः उपमेय और उपमान वाक्य हैं। समानता-वाचक शब्द के बिना यहाँ दोनों वाक्यार्थों की समानता प्रतीत होती है। 'लुटाता' और 'बाँटती' इन दो शब्दों के द्वारा एक ही समान धर्म का कथन होने से 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार है।

'लुटाना' और 'बाँटना' यहाँ एक ही बात समझनी चाहिये।

२. शठ सुधरहि सतसंगति पाई, पारस-परसि कुधातु सुहाई।

—रामचरितमानस

यहाँ पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध क्रमशः उपमेय और उपमान वाक्य हैं। यहाँ समानता वाचक शब्द का उपादान नहीं किया गया और साधारण धर्म को 'सुघरहिं' और 'सुहाई' इन दो शब्दों से कहा गया है, अतः 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार है।

यह प्रतिवस्तूपमा साधर्म्य से भी होती है और वैधर्म्य से भी। साधर्म्य के उदाहरण पहले दिये गये हैं। अब एक उदाहरण वैधर्म्य का भी दिया जाता है।

> ३. मुखहि अलक[1] को छूटिबो, अवस करै दुतिमान।
> विन विभावरी[2] के नहीं, जगमगात सित-भान[3]।

अर्थात् मुख पर लट छूटने से अवश्य शोभा बढ़ जाती है, विना रात्रि के चन्द्रमा भी नहीं जगमगाया करता।

यहाँ उपमेय-वाक्य में 'दुतिमान' होना और उपमान-वाक्य में 'जगमगात' एक ही धर्म हैं। इसलिये प्रतिवस्तूपमा है। परन्तु उपमान-वाक्य मे निषेध रूप से साधारण धर्म का कथन हुआ है। इसलिये यहाँ वैधर्म्य से 'प्रतिवस्तूपमा' है।

अन्य उदाहरण—

> १ चटक न छाँड़त घटतहू, सज्जन-नेह गंभीर,
> फीको परै न बरु फटै, रँग्यो चोल रंग चीर।
>
> —वृन्द

> २. तिनहि सुहाइ न अवध बधावा।
> चोरहि चाँदनी-राति न भावा।
>
> —रामचरितमानस

३. उदार-हृदय मनुष्य आपत्तियों में पड़े होने पर भी अपनी उदारता को ही फैलाता है। काला अगुरु आग में पड़ा होने पर भी अलौकिक सुगन्ध को ही चारों ओर प्रकट करता है।

---

१. लट। २. रात्रि। ३ चन्द्रमा।

४. गुरु के कठोर वचनों से तिरस्कृत होने पर ही मनुष्य महत्त्व प्राप्त करते हैं। शाण पर काट छाँट किये विना मणि मुकुट पर नहीं लगाये जाते।

यह प्रतिवस्तूपमा माला रूप से भी आती है। जब एक उपमेय-वाक्य हो और उपमान-वाक्य अनेक हों, तब इसकी माला बनती है।

जैसे—'सूर्य निर्मल होता है, चन्द्रमा विमल ही होता है, दर्पण स्वभावत सुन्दर है, कैलास भी शुभ है और सज्जन भी स्वभाव से ही अच्छे होते हैं'।

यहाँ 'सज्जन स्वभाव से ही अच्छे होते हैं' यह उपमेय-वाक्य है, क्योंकि सज्जन के वर्णन का प्रसङ्ग है। अन्य वाक्य उपमान-वाक्य हैं। अतः एक उपमेय-वाक्यार्थ के अनेक उपमान-वाक्यार्थों का वर्णन होने से यहाँ 'प्रतिवस्तूपमा-माला' है।

इसी प्रकार—

सिंहों के लेंहड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँत।
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चलें जमात।
—कबीर

यहाँ भी प्रतिवस्तूपमा-माला है।

दीपक और प्रतिवस्तूपमा का अन्तर

दीपक में समान धर्म का कथन एक ही शब्द के द्वारा होता है और प्रतिवस्तूपमा में समानार्थक दो भिन्न शब्दों के द्वारा। यही इनका परस्पर अन्तर है।

१९. दृष्टान्त

जहाँ दो वाक्यार्थों में आये हुए उपमेय और उपमान के धर्मों का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव हो, वहाँ 'दृष्टान्त' अलङ्कार होता है।

जैसे—'जो मूर्खों को समझाता है, वह बालू से तेल निकालने का यत्न करता है' यहाँ दो वाक्यार्थों के आर्थ अभेद का वर्णन है, पर वह सङ्गत नहीं होता, क्योंकि 'मूर्खों को समझाना' और 'बालू से तेल निकालना' दोनों एक बात तो नहीं, पर यहाँ उनका अभेद कहा गया है। तब इसके द्वारा इन दो वाक्यार्थों का सादृश्य फलित होता है। वह इस प्रकार—'मूर्खों को समझाने का यत्न करना ऐसा ही है जैसा बालू से तेल निकालना अर्थात् असंभव है'।

उदाहरण—

१. जग जीत जे चहत हैं, तोसों बैर बढ़ाय।
जीवे की इच्छा करत, कालकूट ते खाय।

अर्थात् तुमसे बैर बढ़ाकर लड़ाई में जीतने की इच्छा करना कालकूट विष खाकर जीने की इच्छा करने के समान है। 'बैर बढ़ाकर युद्ध में विजय की इच्छा करना' यह उपमेय-वाक्य है और 'कालकूट खाकर जीने की इच्छा करना' यह उपमान-वाक्य। इनका अभेद आर्थ है। इसके द्वारा दोनों का सादृश्य फलित हुआ।

यहाँ 'जे' और 'ते' शब्द अभेद-प्रतीति के कराने वाले हैं। इनके अभाव में भी अभेद की प्रतीति होती है।

२. हम अपना नङ्गापन ढकने को कोट पहना करते हैं।
सोना के बदले गुनियों के गौरव पर फूले फिरते हैं।

—मानसी

यहाँ 'नङ्गापन को ढकने के लिये कोट पहनना' और 'सोना के बदले गुनियों के गौरव पर फूला फिरना' एक बात नहीं, पर अर्थ से इनके अभेद का वर्णन हुआ है। इसके द्वारा इस प्रकार सादृश्य फलित होता है—'जिस प्रकार सोना के बदले गुनियों के गौरव पर फूला फिरना [illegible] है, उसी प्रकार नङ्गापन को ढकने के लिये कोट पहनना भी [illegible] है।'

यहाँ 'जे' 'ते' आदि शब्दों के प्रयोग के विना ही अभेद की प्रतीति होती है।

इन दो उदाहरणों में निदर्शना वाक्यार्थों की है। पदार्थों की भी निदर्शना होती है।

जहाँ पदार्थों का अभेद कहा गया हो और वह असम्बद्ध-सा हो, तथा उसका फल सादृश्य हो, वहाँ 'पदार्थ-निदर्शना' होती है।

जैसे—'मुख चन्द्रमा की शोभा धारण कर रहा है' यहाँ मुख मे चन्द्रमा की शोभा का होना कहा गया है, यह हो नहीं सकता। मुख की शोभा और चन्द्रमा की शोभा भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, परन्तु उनका यहाँ अभेद वर्णन किया गया है। इसके द्वारा सादृश्य फलित होकर यह अर्थ निकलता है कि 'मुख चन्द्रमा की शोभा के समान शोभा को धारण कर रहा है।'

उदाहरण—

पारस को सुवरन-करन, वारिदं[1]-वरसन-वान।
धनदं[2]-कोष की सरसता, राम-पानि पहिचानि।

—भारती-भूषण

पारस का स्पर्श से सोना बनाना, बादल का बरसने का स्वभाव और कुबेर के खज़ाने का सदा हरा-भरा रहना अर्थात् कभी कम न होना—इन तीन गुण रूप पदार्थों का रामचन्द्रजी के हाथ में होना बताया गया है। पर यह हो नहीं सकता, क्योंकि वे गुण वहीं रहेंगे जहाँ के वे हैं। तब सादृश्य फलित होता है कि 'पारस के गुण 'स्पर्श से सोना' बनाने के समान गुण राम के हाथ में है।' इस प्रकार यहाँ पदार्थों का उपमेयोपमानभाव होने से पदार्थ-निदर्शना है।

१. बादल। २. कुबेर।

द्वितीय निदर्शना

जहाँ कोई वस्तु अपनी अच्छी या बुरी क्रिया के द्वारा शिक्षा दे, वहाँ भी निदर्शना होती है।

उदाहरण—

> १ दे सुफूल फल दल सुद्रुम, यह उपदेसत ज्ञान।
> लहि सुरा सम्पति कीजिये, आये को सनमान।

अच्छे वृक्ष फूल, फल और पत्ते देने की अपनी क्रिया के द्वारा यह सिखाते हैं कि 'सम्पति मिलने पर अभ्यागत का सम्मान करना चाहिये'।

यहाँ अच्छी क्रिया से अच्छी शिक्षा दी गई है। अतः 'निदर्शना' अलङ्कार है।

> २ हँसमुख प्रसून सिखलाते, पल भर है, जो हँस पाओ,
> अपने उर की सौरभ से जग का आँगन भर जाओ,
> उठ उठ लहरें कहती यह, हम कूल विलोक न पावें,
> पर इस उमङ्ग में वह वह, नित आगे बढ़ती जावें।
>
> —गुञ्जन

यहाँ कुसुम अपनी हँसने—विकसित होने—की क्रिया से संसार को हँसने—प्रसन्न रहने—का उपदेश देता है और सुगन्ध फैलाने की क्रिया से यह बोध कराते हैं कि अपने हृदय के सद्भावों से संसार को पूर्ण कर दो। इसी प्रकार लहरें अपनी उठने की क्रिया से यह बोध कराती हैं कि 'चाहे किनारा—अन्त—न दीखे, तो भी आगे कर्म-मार्ग पर अग्रसर होते जाओ'।

यह निदर्शना का उत्तम उदाहरण है।

निदर्शना-माला

निदर्शना माला रूप में भी आती है। जब एक उपमेय-

वाक्य के लिये अनेक उपमान-वाक्य दिये जाते हैं, तब माला-निदर्शना होती है।

उदाहरण—

भरिवो है समुद को शम्बुक में, छिति को छिगुनी पर धारिवो है।
बाँधिवो है मृणाल सो मत्त करी, जुही फूल से शैल विदारिवो है।
गनिवो है सितारन को 'कवि शङ्कर', रेणु ते तेल निकारिवो है।
कविता समुझाइवो मूढ़न को, सविता गहि भूमि पै डारिवो है।

—श्रीनाथूराम शङ्कर

अर्थात् मूर्ख को कविता समझाना ऐसे ही असम्भव है जैसे समुद्र को सीपी में भरना, पृथ्वी को कनिष्ठिका—छोटी अङ्गुली—पर बठाना, कमल के तन्तुओं से मत्त हाथी को बाँधना, जुही के फूल से पहाड को तोड़ना, आकाश के तारे गिनना, रेत से तेल निकालना और सूर्य को भूमि पर गिराना है।

यहाँ 'मूर्ख को कविता समझाना' यह एक उपमेय-वाक्य है, शेष सब उपमान-वाक्य हैं। अतः यहाँ 'माला-निदर्शना' है।

अन्य उदाहरण—

१. जो दुर्जन को अपने वश में करने की इच्छा करता है।
वह कौतुक से विष पीता है, और आग को अपनाता है।
काले विषधर को ले कर में खेल खेलना चाहता है।
२. वह नभ में बोता बीज, चित्र खींचता पवन में सुन्दर;
जल में रेखायें रचता है, जो खल को सज्जन करता है।
३. पुनि पुनि मोहि दिखाव कुठारा, चहत उड़ावन फूँकि पहारा।
४. तृथा ताप-कारक जगत, को चिर सपति पात।
यह सूचत ग्रीषम-दिननि, रवि अस्ताचल जात॥

—काव्य-कल्पद्रुम

निदर्शना और दृष्टान्त का अन्तर

निदर्शना में उपमेय और उपमान वाक्य सापेक्ष रहते हैं दोनों वाक्यार्थों की सादृश्य-प्रतीति के विना असङ्गति रहती है प्रथम वाक्य दूसरे वाक्य के विना अपूर्ण रहता है।

परन्तु दृष्टान्त में दोनों वाक्यार्थ परस्पर निरपेक्ष रहते हैं दूसरे वाक्यार्थ के विना भी प्रथम वाक्य का अर्थ सुसङ्गत रहता है

निदर्शना और प्रतिवस्तूपमा का भी परस्पर यही अन्तर है जो निदर्शना और दृष्टान्त का है।

✓ २२. श्लेष

जहाँ एक शब्द से अनेक अर्थों की अभिधा से प्रतीति हो, वहाँ 'श्लेष' अलङ्कार होता है।

श्लेष का शब्दार्थ है—संयोग। इसमें एक शब्द के साथ अनेक अर्थों का संयोग रहता है अर्थात् एक शब्द के साथ अनेक अर्थ चिपके होते हैं। एक शब्द का तात्पर्य है एक वार उच्चारण तथा श्रवण किया हुआ शब्द, फिर चाहे अर्थ-बोध के समय अनेक शब्दों का वहाँ भान हो। जैसे—'को घटि ये वृषभानुजा—' इत्यादि पद्य में 'वृषभानुजा' शब्द का एक वार ही उच्चारण तथा श्रवण होता है, परन्तु अर्थ-बोध के समय 'वृषभ-अनुजा' और 'वृषभानु-जा' इन दो शब्दों का भान होता है।

जिस एक शब्द से अनेक अर्थों की प्रतीति होती है उसे अनेक अर्थों के उससे संयोग होने के कारण 'श्लिष्ट' कहा जाता है

यह श्लेष तीन प्रकार का होता है—१. अनेक शब्दों के भान होने से, २. एक शब्द के भान होने से, और ३. शुद्ध रूप से

जहाँ अनेक शब्दों का भान होता है उसे 'सभङ्ग' कहते हैं, क्योंकि वहाँ शब्द को तोड़कर अनेक शब्दों के भान द्वारा अनेक अर्थों की प्रतीति होती है।

जहाँ एक ही शब्द का भान होता है, वहाँ 'अभङ्ग' कहा जाता है, क्योंकि वहाँ शब्द को तोड़ना नहीं पड़ता, पूरे शब्द के अनेक अर्थ निकल आते हैं।

जहाँ शब्द ऐसा हो कि स्वभावतः एकार्थ हो, परन्तु उसके द्वारा अनेक अर्थों की प्रतीति हो जाय, वह 'शुद्ध रूप' होता है।

श्लेष अलङ्कार के लिये एक इस विशेष नियम का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि—श्लेष में जो अनेक अर्थ प्रतीत होते हैं, वे वाच्य होते हैं अर्थात् अभिधा शक्ति के द्वारा उनका बोध होता है। यदि प्रतीयमान अनेक अर्थ वाच्य न होंगे तो श्लेष अलङ्कार न होगा। अभिधा के द्वारा अनेक अर्थों की प्रतीति कहाँ होती है? इसका निरूपण दूसरे अध्याय में किया जा चुका है।

सभङ्ग और अभङ्ग दोनों का उदाहरण एक ही पद्य में दिया जाता है—

> नाँहि नाँहि करैं, थोरे माँगे बहु देन कहैं,
> मंगन को देरि पट देत बार बार हैं।
> जाको मुख देखे भली प्रापति की घटी होत,
> सदा सुभ जन मन भावें निरधार हैं।
> भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
> कनकन जोरैं दान पाठ पर-बार है।
> 'सेनापति' बैननि की रचना विचारो जा में,
> दाता अरु सूम दोऊ कीने इक सार हैं॥

इस पद्य में कवि ने दानी और कंजूस दोनों का वर्णन श्लेष से किया है।

दानी के पक्ष में—'नाहिं' करता है अर्थात् मना नहीं करता। थोड़ा माँगने पर बहुत देने को कहता है (और वह सचमुच देता भी है)। याचकों को देखकर बार बार कपड़े देता है। उसके

दर्शन से अच्छी प्राप्ति होने की घडी होती है जिसको उसके दर्शन हो जाते हैं उसे यह बहुत दे देता है। सदा शुभ जनों के मन को पसन्द आता है। संसार में अच्छे भोग भोगता हुआ शोभा पाता है। कनक—सोने आदि—धन को जोड़ता नहीं। दान और पूजा-पाठ पर धन को लगाता है।

कंजूस के पक्ष मे—'नाहिं नाहिं' करता है अर्थात् सदा 'नाही' कहता है। थोड़ा माँगने पर बहुत देने को कहता है अर्थात् झूठ बोल कर टालता है। याचकों को देखकर किवाड़ बन्द कर लेता है। जिसके मुख देखने से अच्छी भी प्राप्ति घट जाती है, जिसके विषय मे शुभ जनों के मन में ऐसा निश्चय है अर्थात् अच्छे लोगों का निश्चय है कि कंजूस के दर्शन से जो हमें मिलने वाला होता है वह भी नहीं मिलता। इस संसार में वह साँप बनकर रहता है अर्थात् जिस प्रकार सांप खजाने के ऊपर बैठा रहता है, केवल उसकी रक्षा करता है, स्वयं उसका उपभोग नहीं करता, उसी प्रकार कंजूस भी धन का उपयोग नहीं करता, केवल रक्षा करता है। कन-कन—कौड़ी-कौडी—जोडता है और दान तथा पूजा-पाठ का सर्वथा त्याग कर देता है।

यहां 'पट, घटी, सुभ जन मन, भोगी, कनकन, परवार', ये शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। ये श्लिष्ट हैं। इनमें 'कनकन' शब्द सभङ्ग है, क्योंकि इसके टुकड़े करने पड़ते हैं—'कनक न' और 'कन कन'। शेष शब्दों को तोड़ना नहीं पड़ता, अतः वे अभङ्ग हैं।

दाता और सूम दोनों के पक्ष में उपर्युक्त श्लिष्ट शब्दों के अभिधा वृत्ति से दो दो अर्थ प्रतीत होते हैं। अतः यहां 'श्लेष' अलङ्कार है।

'थोरे मांगे बहु देन कहै' का स्वभावतः एक ही अर्थ है, पर यहां उपर्युक्त प्रकार से उसके दो अर्थ प्रतीत होते हैं। यहां सभङ्ग

और अभङ्ग से भिन्न तृतीय प्रकार का श्लेप है। इसमें दोनों ओर एक ही अर्थ लग जाता है, पर उस अर्थ मे भेद होने से अनेक अर्थ समझे जाते हैं।

इस प्रकार इस एक ही पद्य में पूर्वोक्त तीनों प्रकार के श्लेप का सुन्दर समावेश हुआ है।

२ तुम्हारी पी मुख-वास-तरङ्ग, आज बौरे भौंरे सहकार।

—गुञ्जन

यहाँ भौंरे और सहकार दोनों का वर्णन है, दोनों का वर्णन कवि को अभिप्रेत है। अतः यहाँ 'बौरे' शब्द के दो अर्थ प्रतीत होते है—भौंरे बौरे अर्थात् उन्मत्त हो गये और सहकार—आम—बौरे अर्थात् उन पर बौर—मञ्जरियाँ—निकल आईं।

इसमें 'बौरे' शब्द के दो अर्थ बिना भङ्ग किये ही प्रतीत हो जाते हैं। अतः यह 'अभङ्ग' श्लेप है।

३. जो 'रहीम' गति दीप की, कुल कपूत की सोय।
बारे उजियारो करै, बढ़े अँधेरो होय॥

यहाँ दीपक और कपूत—दोनों कवि के वर्णन के विषय हैं। अतएव 'बारे' 'बाल्यकाल' और 'बाल देना' तथा बढ़े-बड़ा-हो जाना और बुझ जाना ये दो दो अर्थ उक्त शब्दों के अभिधा से प्रतीत होते हैं। अतः 'श्लेप' है। भङ्ग न होने से अभङ्ग है।

इस पद्य में 'उजाला करना' और 'अँधेरा होना' इन दोनों में भी श्लेप है। दीपक के पक्ष में—'उजाला करना' का अर्थ है 'प्रकाश करता है' और कुपुत्र के पक्ष में 'माता पिता के हृदय को आनन्द-मग्न कर देता है'। इसी प्रकार 'अँधेरा होना' इसका अर्थ भी दोनों पक्ष मे क्रमशः 'प्रकाश का न होना' और 'बदनाम करना' है। यह श्लेप तृतीय प्रकार का है।

---

1. आन।

४. नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ,
जेतो **नीचो** ह्वै चलै, तेतो **ऊँचो** होइ॥

—बिहारी

यहाँ 'नीचो ह्वै' और 'ऊँचो होइ' इन दो पदों मे श्लेप है। मनुष्य के पक्ष मे 'नीचो ह्वै' का अर्थ है 'नम्र होना' और नल के जल के पक्ष मे 'नीचे होना' अर्थ है। इसी प्रकार 'ऊँचो होइ' इसका अर्थ भी दोनों पक्षों मे क्रमशः 'उन्नति करना' और 'ऊँचे चढना' है। यहाँ भी स्वभावतः एकार्थ होने पर भी इन शब्दों के अनेक अर्थ प्रतीत हुए। अतः यहाँ 'श्लेप' का तृतीय प्रकार है।

शब्द-श्लेप और अर्थ-श्लेप

सभङ्ग और अभङ्ग श्लेप में अनेक अर्थों का अभिधान होने पर भी शब्द स्वभावतः एकार्थक नहीं होते, अपितु अनेकार्थक होते हैं। दूसरी बात यह है कि उनमे शब्दों के परिवर्तन करने पर श्लेप नहीं रहता। जैसे प्रथम पद्य मे 'पट' शब्द के स्थान मे यदि 'द्वार' शब्द रख दिया जाय तो 'कपडा' रूप दूसरा अर्थ प्रतीत नहीं होगा। अतः शब्द को यहाँ बदला नहीं जा सकता अर्थात् इसी शब्द के रहने पर चमत्कार होता है। इसलिये यह शब्द-श्लेप है। इसी प्रकार अन्य शब्दों के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिये।

श्लेप के तृतीय प्रकार मे यदि श्लिष्ट पदों के स्थान मे अन्य समानार्थक पद रख दिये जायँ, तब भी श्लेप अलङ्कार ज्यों का त्यों बना रहता है। इसलिये इसे अर्थ-श्लेप कहते है, क्योंकि इसका विशेप सम्बन्ध अर्थ के साथ है, शब्द के साथ नहीं।

विशेप सूचना—उपर्युक्त उदाहरणों मे श्लेप अलङ्कार स्वतन्त्र रूप से है अर्थात् प्रधान है, अतः ये श्लेप के शुद्ध उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त यह श्लेप अन्य अलङ्कारों के सहायक रूप में बहुत अधिक आता है, इसके द्वारा ही उनकी स्थिति बन पाती है।

परन्तु प्रधानता उन्हीं अलङ्कारों की रहती है। ऐसे स्थलों में 'प्रधानता के अनुसार नामकरण हुआ करता है' इस सिद्धान्त के अनुसार प्रधान अलङ्कार वे ही समझे जाते हैं। उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट किया जाता है—

बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही। संतत सुरानीक हित जेही॥

अर्थात् मैं उन दुर्जनों को पुनः प्रणाम करता हूँ, क्योंकि वे इन्द्र के समान हैं। इन्द्र और दुर्जनों की समता श्लेष से कही गई है। दुर्जन पक्ष में—'जेहि हित सुरानीक' अर्थात् जिन्हें शराब सदा अच्छी लगती है। इन्द्र पक्ष में—'जेहि सुर-अनीक हित' अर्थात् जिसके लिये देवताओं की सेना हितकर है।

यहाँ समान धर्म 'सुरानीक हित' यह शब्द रूप ही है। श्लेष के द्वारा यह दोनों पक्षों में सङ्गत हो जाता है। उपमा में गुण और क्रिया के समान 'शब्द' भी 'समान धर्म' होता है। यहाँ शब्दसाम्य को लेकर ही उपमा की सङ्गति बैठती है, अन्य कोई गुण या क्रिया रूप धर्म यहाँ समानता का हेतु नहीं कहा गया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ प्रधान अलङ्कार उपमा ही है, श्लेष उसका सहायक है। यह ठीक है कि श्लेष के द्वारा ही यहाँ उपमा चमत्कृत हुई है।

इसी प्रकार—

स्नेह-सुरा में वह सखि! चिरकाल,
अकलुष दीप-शिखा-समान।
—गुञ्जन

यहाँ प्रेयसी को दीप-शिखा के समान कहा गया है। अतः उपमा है। परन्तु 'स्नेह' और 'अकलुष' शब्दों के द्वारा यह विशेष चमत्कृत हो रही है। स्नेह का अर्थ प्रेयसी के पक्ष में—माता पिता का वात्सल्य और दीप-शिखा के पक्ष में—तेल। जिस प्रकार तेल

पर्याप्त रहने पर दीप-शिखा चिरकाल तक बढ़ी रहती है, मन्द नहीं होती और जिस प्रकार तेल पर्याप्त रहने से ज्योति के प्रदीप्त रहने से उस पर कज्जल की कालिमा नहीं बनती, उसी प्रकार मातापिता के स्नेह की प्रचुरता मे तुम पली हो और निष्पाप अर्थात् शुद्ध हो।

न केवल उपमा के ही अपितु अन्य अलङ्कारों के भी सहायक रूप मे यह श्लेष अलङ्कार आता है।

श्लिष्ट-परम्परित रूपक के नाम से ही प्रकट है कि इसके सहायक रूप मे श्लेष आता है, रूपक-प्रकरण मे यह स्पष्ट हो चुका है।

निम्नलिखित पद्यों में भी श्लेष अन्य अलङ्कारों के सहायक रूप में आया है—

१. दूरि भजत प्रभु पीठि दै, **गुन** विस्तारन काल।
प्रगटत **निर्गुन** निकट ही, चंग-रंग गोपाल॥

—बिहारी

२. भूषण-सदृश उडुगण हुए सुख चन्द्र-शोभा छा रही।
विमलाम्बरा रजनी-वधू अभिसारिका-सी जा रही॥

—जयद्रथवध

३ साधु-चरित **सुभ** सरिस कपासू।
निरस बिसद गुनमय फल जासू॥

—रामचरितमानस

४. सेवा-अनुरूप फल देत भूप कूप ज्यों,
बिहीन-**गुन** पथिक पियासे जात पथके।

५. जलने को ही **स्नेह** बना, उठने को ही वाष्प बना है।

—यशोधरा

---

१. पृष्ठ, पतंग। २. वस्त्र। ३. नारायण। ४. रस्सी।

विरोधाभास और परिसंख्या अलङ्कारों में श्लेष का आभास मात्र होता है, वह प्रधान अलङ्कार नहीं बन पाता। इनके प्रकरणों में यह बात स्पष्ट होगी।

यह श्लेष अलङ्कार अन्य अलङ्कारों के साथ आकर उन्हें अत्यन्त चमत्कृत कर देता है। अतएव इसे प्राचीन और अर्वाचीन महाकवियों ने खूब अपनाया है। इसी लिये शब्दगत चमत्कार होने पर भी इसका बहुत अधिक महत्त्व है। अधिक महत्त्व के कारण ही इसका यहाँ अर्थ-चमत्कार-प्रधान अलङ्कारों में निरूपण किया गया है।

२३. समासोक्ति

जहाँ प्रस्तुत पदार्थ के व्यवहार में केवल साधारण विशेषणों के द्वारा प्रतीत अप्रस्तुत अर्थ के व्यवहार के अभेद की प्रतीति होती है, वहाँ 'समासोक्ति' होती है।

समासोक्ति का शब्दार्थ है—समास अर्थात् संक्षेप से कथन। यहाँ समान विशेषण शब्दों की महिमा से अन्य अप्रस्तुत अर्थ की भी प्रतीति हो जाती है। यही संक्षेप से कथन है।

वर्णन का जो विषय होता है उसे प्रस्तुत कहते हैं। प्रस्तुत के वर्णन में कुछ शब्द ऐसे आ जाते हैं जो बलात् पाठक या श्रोता का ध्यान अन्य अप्रस्तुत अर्थ की ओर खींच लेते हैं।

विशेषणों की समानता श्लेष से भी होती है और शुद्ध साधारण रूप से भी।

इसमें प्रस्तुत अर्थ की अभिधा से प्रतीति होती है। प्रस्तुत अर्थ में प्रकरण आदि के द्वारा नियन्त्रण होने से अभिधा अन्य

१. समासोक्ति प्रस्तुत विषय, अप्रस्तुत कर होय
कुमुदिनिहू प्रफुल्लित भई, साँझ कलानिधि जोय।

—काव्य-प्रभाकर

अप्रस्तुत अर्थ का बोध नहीं करा सकती। अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना के द्वारा होती है।

प्रातःकाल का वर्णन करते हुए यदि कहा जाय कि 'कमलिनी सूर्य के उदय होते ही खिल जाती है' तो कमलिनी और सूर्य इन प्रस्तुत पदार्थों के व्यवहार मे अप्रस्तुत नायिका और नायक के व्यवहार की प्रतीति होने लगती है। अतः यहाँ 'समासोक्ति' है।

उदाहरण—

१ सालङ्कार सुवर्न-युत, रस-निरभर गुण-लीन।
भाव-निबन्धित जयति जय, कवि-भारती नवीन॥
—जसवन्त-जसोभूषण

यहाँ कवि की नवीन वाणी कविता प्रस्तुत है। वह उपमा आदि अलङ्कारों, अच्छे वर्णो के न्यास आदि से युक्त है, शृङ्गार आदि रसों से परिपूर्ण है, माधुर्य आदि गुणों से युक्त तथा स्थायी आदि भावों से भरी है।

यहाँ कवि-भारती के जो विशेषण दिये गये हैं, वे श्लिष्ट हैं। इन श्लिष्ट विशेषणों के बल से अप्रस्तुत नायिका की भी प्रतीति हो जाती है। वह भी हार आदि अलङ्कारों से सजी हुई है, अच्छे रंग से युक्त है, अनुराग से परिपूर्ण है, शील उदारता आदि गुण भी उसमें हैं, और वह विचारशील तथा नव-वयस्क है।

यहाँ अप्रस्तुत अर्थ नायिका के व्यवहार के अभेद की प्रतीति होने से 'समासोक्ति' है।

२ तच्यौ आँच अतिबिरह की, रह्यौ प्रेम-रस भीजि।
नैननि के मग जल बहै, हियौ पसीजि पसीजि। —बिहारी

अर्थात् हृदय विरह की अग्नि से तप गया है और प्रेम जल से भीगा हुआ है अतएव वह नेत्रों के मार्ग से पसीज पसीज कर आँसुओं के रूप में निकल रहा है।

यह अर्थ तो हुआ प्रस्तुत, क्योंकि यह पद्य विरह-निवेदन के
ह में कहा गया है।

परन्तु यहाँ विशेषण ऐसे साधारण हैं जिनके द्वारा बलात्
निकालने की रीति की भी प्रतीति हो जाती है।

जिस वस्तु का अर्क निकालना होता है, उसे पानी में डाल
भट्टी पर चढ़ा देते हैं और खूब आँच देकर गरम करते हैं, तब
ज पसीज कर पानी की बूँदों के रूप में वर्तन में लगी नली के
ा उस वस्तु का सारभूत पदार्थ 'अर्क' बाहर निकलता है।

यहाँ हृदय का अर्क निकल रहा है। प्रेम के जल में वह
ोया गया है। आग विरह है। नलियाँ आँखें हैं। आँसू अर्क हैं।

इस प्रकार विरह-निवेदन-रूप प्रस्तुत अर्थ के द्वारा अप्रस्तुत
र्थ अर्क निकालने की रीति की प्रतीति होने से यहाँ 'समासोक्ति'
लङ्कार है।

३. वह अपनी आँखों के मद से सींच रही है जग फुलवारी,
उसके कभी मुस्कराते ही हँस उठती है क्यारी-क्यारी।

—मानसी

यहाँ प्रस्तुत वस्तु कवि की 'मानसी' है। उसके द्वारा
प्रस्तुत अध्यात्म-अर्थ की भी प्रतीति होती है। उस अखिल-
ब्रह्माण्ड-नायक की प्रेरणा से यह संसार-प्रपञ्च चल रहा है और
सके मुसकराते ही संसार खिल उठता है अर्थात् उसकी प्रसन्नता
ा ही संसार में आनन्द की सत्ता का लोगों को भान होता है।

अथवा प्रकृति रूप अर्थ की यहाँ प्रतीति होती है, जो इस
ंसार की प्रक्रिया का सञ्चालन कर रही है, वसन्त आदि ऋतुओं
का आविर्भाव उसी की मुसकराहट है।

दोनों प्रकार से प्रस्तुत अर्थ से अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति
होने के कारण समासोक्ति है।

यह ध्यान रहे कि प्रस्तुत अर्थ के व्यवहार में अप्रस्तुत अर्थ के व्यवहार का अभेद यहाँ अवश्य प्रतीत होता है।

श्लिष्ट विशेषणों की समासोक्ति अब उपयोग में प्रायः नहीं आती। पर शुद्ध साधारण विशेषणों के बल से अब भी समासोक्ति का उपयोग होता है।

अन्य उदाहरण—

(क) अस्ताचल को रवि करता है सन्ध्या-समय गमन,
विरह-व्यथा से हो जाती है वसुधा सजल-नयन।

(ख) देख रहे हैं सब पादपगण, खींच रहा है वसन समीरण।
लतिकायें हो कोपित क्षण-क्षण, फेंक रही हैं सुमन-विभूषण।

—कादम्बिनी

(ग) भ्रमर के मँडराने से आन्दोलित पुष्प की आन्तरिक पँखुड़ियों में निकल कर ओस-बिन्दु गुलाब के फैले हुए लाल दलों पर ढलता दिखाई दे रहा है।

—श्रीमदुरशरण अवस्थी (विचारविमर्श)

(घ) उत्सङ्ग में तेरे गङ्गे ! मधुर मधुर पय पी-पी कर।
श्रम को निखिल मिटा कर आराम नित्य कब पाऊँगा।

२८. अप्रस्तुतप्रशंसा

जहाँ अप्रस्तुत अर्थ के द्वारा प्रस्तुत अर्थ को सूचित किया जाय, वहाँ 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' होती है।

अप्रस्तुतप्रशंसा का शब्दार्थ है—अप्रस्तुत का वर्णन। यहाँ प्रशंसा शब्द का अर्थ वर्णनमात्र है, स्तुति नहीं। इस अलङ्कार में अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत अर्थ का बोध कराया जाता है। इस प्रकार

---

१ अप्रस्तुतप्रशंस जहँ, प्रस्तुत अर्थ हि होय।
राजहंस जिन को कहै, [illegible]।

—काव्य-प्रभाकर

से विशेष चमत्कार उत्पन्न होता है और अतएव विदग्ध जनों को यह शैली अत्यन्त प्रिय है।

इसके पाँच प्रकार हैं—१. अप्रस्तुत अर्थ के द्वारा सदृश प्रस्तुत की प्रतीति। २. अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का बोध। ३. अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति। ४ अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य की प्रतीति। ५. अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण का बोध।

प्रथम प्रकार का उदाहरण—

सन्तुष्ट आक पर नित्य रहो सहर्ष,
हे ग्रीष्म। सन्तत करो उसका प्रकर्ष।
है कौन हेतु पर होकर जो कराल,
हो नष्ट भ्रष्ट करते तुम ये तमाल।

—श्रीसियारामशरण गुप्त

यहाँ प्रस्तुत है वह व्यक्ति जो अपने किसी अनुचर पर प्रसन्न होकर कृपा कर रहा है और किसी दूसरे व्यक्ति को [illegible] ही कुपित हो बरबाद कर रहा है।

परन्तु उसके अनुचित व्यवहार पर [illegible] कर उसके सदृश ग्रीष्म का वर्णन किया गया है। [illegible] व्यक्ति के समान ही निकम्मे आक को तो [illegible] तमाल वृक्ष—जिसकी छाया में बैठकर [illegible] पाते हैं और जिस पर पक्षी आराम करते हैं—[illegible]

अतः यहाँ अप्रस्तुत अर्थ के [illegible] होने से 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' अलङ्कार है।

अप्रस्तुत-प्रशंसा के इस [illegible] कहते हैं। अन्योक्ति इसे इसलिये कहते हैं [illegible] वर्णन किया जाता है अर्थात् [illegible] है

कौन प्रस्तुत है और कौन अप्रस्तुत ? इसका निर्णय प्रकरण से होता है। मुक्तक पद्यों में प्रकरण के ज्ञान की कठिनाई अवश्य पड़ती है। परन्तु वहाँ कवि का अभिप्राय समझकर निर्णय हो जाता है।

जब कवि केवल अन्योक्ति के रूप में ही किसी पद्य की रचना करता है, वर्णनीय वस्तु ही उसका प्राकरणिक होता है, उसके द्वारा तत्सदृश अर्थ का बोध भी उसे अभिप्रेत होता है, तब वहाँ प्रस्तुत अर्थ के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होने से 'समासोक्ति' अलङ्कार होगा। यदि कवि के हृदय में उस अर्थ के होने से उसे प्रस्तुत कहा जायगा और वर्णनीय को अप्रस्तुत, तब 'समासोक्ति' न होगी, 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' ही होगी।

इस बात को उदाहरण देकर स्पष्ट किया जाता है। कविवर गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' चन्द्र के प्रति कहते हैं—

> लोक में कीर्तिमान् होते हो, शान्त ! प्रेम-बीज बोते हो।
> जब कि कर सकते हो अमृत-वर्षा, क्यों न अपना कलङ्क धोते हो ॥

यहाँ यदि कवि के वर्णन का विषय वह व्यक्ति है जो चन्द्रमा के समान औरों का उपकार कर यश प्राप्त कर रहा है, पर अपने ऊपर लगे हुए दुर्व्यसन को नहीं छोड़ रहा है तो यहाँ अप्रस्तुत चन्द्र के द्वारा प्रस्तुत अन्य अर्थ की प्रतीति होने से 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' अलङ्कार होगा। यदि सायङ्काल किसी समय चन्द्रमा को देखकर कवि के हृदय में उक्त विचार उठा हो तो प्रस्तुत चन्द्र होगा और उसके द्वारा अप्रस्तुत तत्सदृश व्यक्ति की प्रतीति होने से 'समासोक्ति' अलङ्कार होगा।

इस प्रकार प्रस्तुत और अप्रस्तुत के निर्णय के द्वारा समासोक्ति या अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार ऐसे पद्यों में समझना चाहिये।

यदि प्रस्तुत और अप्रस्तुत का निर्णय किसी प्रकार न हो सके तो दोनों अलङ्कारों का सन्देहसङ्कर समझना चाहिये। सन्देहसङ्कर का निरूपण आगे किया जायगा।

कभी कभी यह श्लेष से भी परिपुष्ट रहती है। जैसे पूर्वोक्त 'लोक में-' इस उदाहरण में 'कलङ्क' शब्द श्लिष्ट है। चन्द्रमा के पक्ष में—'चिह्न' और बोध्य व्यक्ति के विषय में 'अपवाद, शराब आदि के स्वभाव रूप दुर्व्यसन'।

निम्नलिखित पद्यों में भी अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। इनमें 'प्रस्तुत' का बोध प्रकरण से कर लेना चाहिये। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि वर्ण्यमान ही प्रस्तुत हैं तो 'समासोक्ति' अलङ्कार होगा तथा यदि प्रस्तुत अप्रस्तुत का निर्णय नहीं हो पाता तो अप्रस्तुतप्रशंसा और समासोक्ति का सन्देहसङ्कर है—

१. यद के विस्तार में कहीं तुम हो, स्वर्ग-आदर्श-से यहीं तुम हो।
किन्तु विद्वान् है यही कहता, शून्य हो यार! कुछ नहीं तुम हो।
—श्री 'सनेही'

२ स्वारथ सुकृत न, स्रम वृथा, देखु विहग! विचारि।
बाज पराये पानि परी, तू पँछीहिं न मारि।
—बिहारी

३. (प्रातःकालीन तारों के प्रति)
आसमान पर खड़े हुए हो, सब से ऊंचे चढ़े हुए हो।
सब बातों में बड़े हुए हो—हुए न तनिक उदार।
—श्रीबदरीनाथ भट्ट

४. मत हो मन में खिन्न शीघ्र वह दिन आवेगा।
जब तू अपना रत्न! उचित आसन पावेगा।
तेरा जौहर प्रकट रत्न! जब हो जावेगा,
तब तेरे हित कौन न निज कर फैलावेगा?

है बार बार आता यही मेरे शुद्ध विचार में,
दु:ख सहने पर ही उच्च पद मिलता है संसार में।

—श्रीगोपालशरणसिंह

जब ऐसे स्थलों पर दोनों वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ प्रस्तुत होंगे, तब भी अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार ही होगा, क्योंकि उनमें एक अर्थ अधिक प्रस्तुत होगा और दूसरा कम। जो कम प्रस्तुत होगा वह अप्रस्तुत ही समझा जायगा। पूर्वोक्त चन्द्रमा की अन्योक्ति यदि चन्द्रमा और तत्सदृश व्यक्ति दोनों की उपस्थिति के समय कही गई हो तो भी विशेष प्रस्तुत वह व्यक्ति ही होगा और गौण होने से चन्द्रमा प्रस्तुत होते हुए भी अप्रस्तुत। अत: ऐसे स्थलों में भी 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' अलङ्कार ही होता है।

विशेष सूचना

श्लेष, समासोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा और शाब्दी व्यञ्जना—इन चारों मे ही अनेक अर्थों की प्रतीति होती है, इनका अन्तर अतएव स्पष्ट समझ लेना चाहिये।

श्लेष मे सभी अर्थ वाच्य होते हैं अर्थात् अभिधा के द्वारा प्रतीत होते हैं और शेष तीनों मे एक अर्थ वाच्य होता है और अन्य अर्थ व्यङ्ग्य।

अप्रस्तुत-प्रशंसा मे अन्य अर्थ प्रस्तुत होता है और समासोक्ति तथा शाब्दी व्यञ्जना मे अप्रस्तुत।

समासोक्ति मे केवल विशेषण श्लिष्ट होते हैं, परन्तु शाब्दी व्यञ्जना के स्थल में विशेष्य भी श्लिष्ट होते हैं।

इस प्रकार उदाहरणों में समन्वय करते हुए इनका अन्तर समझ लेना चाहिये।

अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति—

मान-सहित विष खाय कै, संभु भये जगदीश।
बिन आदर अम्रत भख्यो, राहु कटायो सीस।

यहाँ अप्रस्तुत विशेष शिव और राहु के वर्णन से 'विना मान के अमृत पीने की अपेक्षा मान के साथ विष पीना अच्छा है।' इस सामान्य प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होने से 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' अलङ्कार है।

जब सामान्य बात की शिक्षा गुरु आदि के द्वारा दी जा रही हो और उस प्रसङ्ग मे यह पद्य कह दिया जाय, तब यहाँ विशेष अप्रस्तुत होगा और सामान्य प्रस्तुत।

सामान्य और विशेष के प्रस्तुत और अप्रस्तुत का निर्णय प्रसङ्ग के अनुसार करना चाहिये।

इसी पद्य को यदि राहु की कथा के प्रसङ्ग में कहा गया हो तो यह विशेष प्रस्तुत होगा और तब अप्रस्तुत का वर्णन न होने से 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' भी नहीं होगी।

अप्रस्तुत सामान्य से विशेष प्रस्तुत की प्रतीति—

सहि अपमान जु रहत चुप, ता नर-सों वर धूरि।
जो पादाहत झट उठत, चढत हतक-सिर भूरि।

अर्थात् जो मनुष्य अपमान को चुपचाप सह लेता है, उसका प्रतिकार नहीं करता, उसकी अपेक्षा वह धूल अच्छी है जो पैर से आघात करने वाले के सिर पर झट उठकर चढ़ जाती है। धूल पर जिसका पैर पड़ता है उसके सिर पर वह जा चढ़ती है।

यह उक्ति है माघ-काव्य में बलदेव की श्रीकृष्ण के प्रति। शिशुपाल के द्वारा बार बार अपमान किये जाने पर क्रुद्ध हो वे उससे बदला लेने के लिये श्रीकृष्ण को कहते हैं। प्रस्तुत विषय वहाँ विशेष था, उनका आशय है कि हमारी अपेक्षा धूल अच्छी है जो अपनी बुराई करने वाले से तत्काल सिर पर चढ़कर बदला

ले लेती है। यह विशेष न कहकर उन्होंने अप्रस्तुत सामान्य का वर्णन कर दिया।

अतः अप्रस्तुत सामान्य के द्वारा प्रस्तुत विशेष की प्रतीति होने से यहाँ 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' है।

यहाँ भी प्रकरण के बिना सामान्य और विशेष के प्रस्तुत और अप्रस्तुत होने का निर्णय करना असम्भव है। अतः प्रकरण का ध्यान रखना चाहिये।

कवि का सत्कार कराने के लिये राजा से जब कोई मन्त्री सत्कार करने के कारणों का यों वर्णन करे—

> आवत नित नियमित समय, बहु विधि देत असीस।
> खाइ खरच निज गाँठ को, कवि कुस भयो महीस।
>
> —भारतीभूषण

तब यहाँ सत्कार रूप कार्य के प्रस्तुत होने पर भी उसका वर्णन न कर उसके 'नित्य नियमित समय पर आना' आदि अप्रस्तुत कारणों का वर्णन किया गया है। अतः यहाँ 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' है।

निम्नलिखित पद्य में विरह प्रस्तुत है—

> गोपिन के अंसुवनभरी, सदा असोस अपार।
> डगरें डगर नैं[2] ह्वै रही, बगरें[3] बगर के बार[4]।
>
> —बिहारी

इसमें अप्रस्तुत कार्य आँसुओं का वर्णन किया गया है। उसके द्वारा प्रस्तुत कारण विरह की प्रतीति होती है। अतः 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' अलङ्कार है।

उपमा के अनेक रूप

उपमा के प्रकरण में यह कहा गया है कि उपमा ही शैली-भेद से अनेक अलङ्कारों का रूप धारण करती है। इस बात को

१. [illegible]। २. नदी। ३. बगर, [illegible]। ४. [illegible]।

स्पष्ट करने के लिये यहाँ 'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' इस उपमा-वाक्य के भिन्न-भिन्न रूपों का निरूपण अलङ्कारों के निर्देश के साथ किया जाता है—

१. (क) मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है— उपमा

(ख) मुख चन्द्रमा के समान है— लुप्तोपमा

(ग) मुख चन्द्रमा के समान शीतल और सुन्दर है—समुच्चयोपमा

(घ) मुख चन्द्रमा के समान आह्लादक और चन्द्रमा मुख के समान सुन्दर है— परस्परोपमा

(ङ) मुख कमल के समान और कमल चन्द्रमा के समान है— रशनोपमा

(च) मुख चन्द्रमा का सहोदर है— ललितोपमा

(छ) मुख चन्द्रमा और कमल के समान है— मालोपमा

२. मुख चन्द्रमा के समान है और चन्द्रमा मुख के समान है— उपमेयोपमा

३. मुख मुख के ही समान है— अनन्वय

४. मुख के समान चन्द्रमा आदि कोई नहीं— असम

५. अपनी वस्तु को सभी अच्छा कहते हैं जैसे प्रिय अपनी प्रियतमा के मुख को चन्द्रमा से सुन्दर समझता है— उदाहरण

६. चन्द्रमा मुख के समान है— प्रतीप

७. मुख निष्कलङ्क है और चन्द्र सकलङ्क— व्यतिरेक

८ चन्द्रमा को देखकर मुख की याद आ जाती है— स्मरण

९. मुख ही चन्द्रमा है— रूपक

१०. मुख को चकोर चन्द्र, भ्रमर कमल और नायक सर्वस्व समझ रहा है— उल्लेख

११. यह मुख नहीं, चन्द्रमा है— अपह्नुति

१२ यह चन्द्रमा नहीं, मुख है— निश्चय

१३. चन्द्रमा समझ कर चकोर मुख की ओर आ रहे हैं—

१४. यह मुख है कि चन्द्र है ?—

१५ मुख मानों चन्द्र है—

१६ (मुख के विषय में) चन्द्रमा निकल आया— अति

१७ मुख के सामने चन्द्र और कमल शोभाहीन है— तुम

१८. मुख और चन्द्र दोनों सुन्दर हैं—

१९ मुख को देख प्रिय प्रसन्न होता है, चन्द्र को देख चकोर आनन्दित होता है— प्रतिव

२०. मुख में मुसकान है, चन्द्र में चाँदनी है—

२१ मुख चन्द्रमा की शोभा को धारण कर रहा है— नि

इन अलङ्कारों के अवान्तर भेदों के उदाहरण ग्रन्थ-वि के भय से छोड़ दिये हैं।

विरोधमूलक अलङ्कार

जिन अलङ्कारों में चमत्कार का मूल विरोध है, 'विरोधमूलक' कहा जाता है।

इनमें विरोध कविकल्पित होता है, वास्तविक नहीं। अ यहाँ विरोध प्रतीत होते ही शान्त हो जाता है। विरोध के होकर शान्त हो जाने में ही चमत्कार है। जिस प्रकार वि अपनी क्षणिक चमक से लोगों को चमत्कृत कर देती है, प्रकार विरोध अपने क्षणिक आभास के द्वारा उक्ति में चम पैदा कर देता है। वास्तविक विरोध तो दोष है।

विरोधमूलक अलङ्कारों में ये पाँच मुख्य हैं—१. विरोधा २. विभावना, ३. विशेषोक्ति, ४. असङ्गति और ५. विषम।

२५. विरोधाभास

जहाँ विरोध न होने पर भी विरोध की प्रतीति वहाँ 'विरोधाभास' अलङ्कार होता है।

इसमें अनेक पदार्थों का एकत्र होना वर्णित होता है, पर वह विरुद्ध-सा प्रतीत होता है।

उदाहरण—

> राजघाट पर पुल बँधत, जहँ कुलीन की ढेरि।
> आज गये कल देखिके, आजहिं लौटे फेरि॥

—महामहोपाध्याय 'सुधाकर' द्विवेदी

जब आज देखने गये और आज ही लौट भी गये, तब 'कल देखकर' यह कैसे हो सकता है। विरोध-सा यहाँ प्रतीत होता है, क्योंकि 'आज देखकर लौटना' और 'कल देखना' एक साथ होता नहीं परन्तु यहाँ 'कल' शब्द का अर्थ 'यन्त्र, मशीन' है। इस प्रकार 'यन्त्र को देखने आज गये और आज ही लौट भी आये' ऐसा अर्थ होने से विरोध शान्त हो जाता है।

यहाँ 'कल' शब्द में श्लेष का भी आभास है, तभी 'विरोधाभास' सिद्ध होता है।

> २. शान्ति का है अशान्ति में वास, छिपा संशय में है विश्वास।
> वेदना में भी है उल्लास, अश्रु में प्रतिबिम्बित है हास।
> पूर्ति का है अभाव आभास, चिरन्तन है ध्रुव विश्व-विकास।

—कादम्बिनी

यहाँ शान्ति और अशान्ति, संशय और विश्वास, वेदना और उल्लास, अश्रु और हास, पूर्ति और अभाव का विरोध मालूम पड़ता है, क्योंकि यहाँ इनकी एक स्थान पर स्थिति कही गई है। परन्तु विरोध शीघ्र निवृत्त हो जाता है जब ध्यान जाता है 'विकास' की ओर। यहाँ विकास का क्रम बताया गया है। 'शान्ति का अशान्ति में वास' का तात्पर्य है, कि अशान्ति के बाद शान्ति ही उत्पन्न होती है, यही विकास का क्रम है' इस प्रकार आभास होकर विरोध की निवृत्ति हो जाती है। अतः यहाँ 'विरोधाभास' अलङ्कार है।

इसी प्रकार इस पद्य मे आये हुए अन्य विरोधों की भी निवृत्ति हो जाने से उनमे भी 'विरोधाभास' अलङ्कार है।

अन्य उदाहरण—

१ तन्त्री-नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रग,
अनबूड़े बूड़े, तिरे, जे बूड़े सब अंग।

—बिहारी

२. कटुता मे मिठास पाती हूँ, दिव्य अमृत मे गरल मिला है।

—मानसी

३ मज्जन-फल देखिय ततकाला, काक होहिं पिक बकहु मराला।

—रामचरितमानस

२६. विभावना

जहाँ कारण के अभाव में ही कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो, वहाँ 'विभावना' अलङ्कार होता है।

यहाँ कारण के अभाव में—कार्य की उत्पत्ति होने में—विरोध प्रतीत होता है, पर किसी अन्य कारण की कल्पना से वह निवृत्त हो जाता है।

इसके दो भेद हैं—१. शाब्दी, २. आर्थी। जब कारण के अभाव का शब्द से कथन हो तब 'शाब्दी' होती है और जब वह अर्थात् सिद्ध होता है, तब 'आर्थी'।

उदाहरण—(शाब्दी)

१. निन्दक नियरे राखिये, आगन कुटी छवाय,
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय।

—कबीर

साबुन और पानी से सफ़ाई होती है अर्थात् साबुन और पानी सफ़ाई के कारण हैं, परन्तु यहाँ उनके बिना भी उसके होने

---

१. प्रेम या रंग।

का वर्णन किया गया है। अतः कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होने से यहाँ 'विभावना' अलङ्कार है।

निन्दक के द्वारा दोषों के प्रकट किये जाने पर उनको दूर कर दिया जायगा, अतः स्वभाव में निर्मलता आ जायगी। स्वभाव की निर्मलता का कारण 'दोष मालूम पड़ने पर दूर करना' है। इस प्रकार यहाँ विरोध दूर हो जाता है।

उदाहरण—(आर्थी)

२ कारे कारे घन आकर अङ्गारे बरसाते हैं।

यहाँ विरुद्ध कारण मेघ से अङ्गारे बरसना कार्य के होने का वर्णन है। विरुद्ध कारण का होना कारण के अभाव का ही सूचक है। अतः यहाँ कारण के अभाव का शब्द से कथन न होने से 'आर्थी विभावना' है।

२७. विशेषोक्ति

जहाँ प्रसिद्ध कारण की विद्यमानता में भी कार्य के न होने का वर्णन हो, वहाँ 'विशेषोक्ति' अलङ्कार होता है।

कारण के रहते कार्य न होने में विरोध प्रतीत होता है, परन्तु प्रसिद्ध कारण से भिन्न कारण के अभाव होने से कार्य नहीं होता—इस प्रकार विरोध दूर हो जाता है।

उदाहरण—

देखो दो दो मेघ बरसते, मैं प्यासी की प्यासी।

—यशोधरा

यहाँ 'मेघों का बरसना' कारण विद्यमान है, पर 'प्यास बुझना' कार्य नहीं हो रहा है। अतः कारण रहते कार्य न होने से यहाँ 'विशेषोक्ति' अलङ्कार है।

यहाँ 'प्यास' शब्द लाक्षणिक है। उसका अर्थ है 'पति दर्शनों की लालसा'। उसकी शान्ति का कारण 'मेघों का बरसना' नहीं

अतः प्रसिद्ध कारण से भिन्न कारण के अभाव होने से यहाँ कार्य नहीं हुआ। मेघ यहाँ असली नहीं, मेघ हैं आँखें। इस प्रकार यहाँ कारण और कार्य दोनों कवि-कल्पित हैं। अतः उनका विरोध भी अवास्तविक ही है।

इस अलङ्कार में इसी प्रकार 'कारण-कार्यभाव' कवि-कल्पित होता है, तभी विरोध चमत्कार का कारण बनता है।

विभावना में भी 'कार्य-कारणाभाव' प्रायः कवि-कल्पित होता है।

वास्तविक कारण के विना तो कार्य नहीं हो सकता, हो ही नहीं सकता।

उदाहरण—

नेह न नैननि को कछु, उपजी बड़ी बलाय।
नीर-भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय।

—बिहारी

यहाँ कारण 'जल' की विद्यमानता में भी 'प्यास बुझना' कार्य नहीं हो रहा है। अतः 'विशेषोक्ति' अलङ्कार है।

यहाँ भी प्यास जल की नहीं, अपितु 'प्रिय-दर्शन' की है। प्रियतम के दर्शन से ही वह शान्त होगी, आँसुओं के जल से नहीं।

कार्य-कारणाभाव यहाँ भी कवि-कल्पित है। अतः विरोध वास्तविक नहीं। अतः तत्काल निवृत्त हो जाता है।

विरोधाभास और विभावना का अन्तर

विरोधाभास में पदार्थों का परस्पर विरोध रहता है, परन्तु विभावना में कारण और कार्य के सम्बन्ध का विरोध होता है।

यही अन्तर विरोधाभास और विशेषोक्ति का भी है।

२८. असङ्गति

जहाँ कारण और कार्य की भिन्न भिन्न स्थलों में स्थिति का वर्णन हो वहाँ 'असङ्गति' अलङ्कार होता है।

कारण और कार्य के भिन्न-भिन्न स्थलों मे होना विरोधयुक्त-सा है। पर पूर्ववत् यहाँ भी 'कार्य-कारणभाव' कवि-कल्पित होता है। अतः विरोध भी वास्तविक नहीं होता।

उदाहरण—

१. कोयल काली मतवाली है, आम्रमंजरी झूम रही है।

यहाँ 'झूमने' का कारण 'मतवालापन' कोयल मे है, परन्तु कार्य झूमना 'आम्रमंजरी' मे। जो मतवाला होता है वही झूमता भी है। परन्तु यहाँ मतवाला कोई और है और झूमता कोई और ही है। अतः कारण और कार्य का भिन्न अधिकरण मे वर्णन होने से यहाँ 'असङ्गति' अलङ्कार है।

आम्रमञ्जरी का झूमना—हिलना—स्वाभाविक है। उसका कारण कोयल की मस्ती नहीं। अतः यहाँ 'विरोध' वास्तविक नहीं।

उदाहरण—

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हिये, दई नई यह रीति।

—बिहारी

यहाँ असङ्गतियों की माला है। नियम तो यह है कि जो उलझता है, वही टूटता है और जोड़ा भी उसी को जाता है तथा जिसे जोड़ा जाता है, गाँठ भी उसी में पड़ती है। परन्तु यहाँ उलझती हैं आँखे, टूटता है कुटुम्ब (अर्थात् घर बार टूटता है), जुडते हैं प्रेमियों के चित्त और गाँठ पड़ती है विरोधियों के हृदय में। अद्भुत असङ्गति है।

विरोधाभास और असङ्गति का अन्तर

विरोधाभास में भिन्न-भिन्न अधिकरणों में रहने [illegible] की एक अधिकरण मे स्थिति का उल्लेख होता है, [illegible] इसके विपरीत एक अधिकरण मे रहने वाले [illegible]

अधिकरण में रहने का वर्णन होता है—यही इनका परस्पर अन्तर है।

२९. विषम

जहाँ अयोग्य सम्बन्ध का वर्णन हो वहाँ 'विषम' अलङ्कार होता है।

अयोग्य सम्बन्ध का अर्थ है—विषमता। यह तीन प्रकार की होती है। इसलिये विषम के भी तीन भेद होते हैं।

प्रथम विषम

जहाँ दो विरूप (बेमेल) वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध बताया जाय, वहाँ प्रथम विषम होता है।

उदाहरण—

कहँ कुम्भज कहँ सिन्धु अपारा। सोखेउ, सुयश सकल संसारा।

—रामचरितमानस

अपार समुद्र और घड़े से उत्पन्न अगस्त्य मुनि—इन दोनों में बहुत वैषम्य है, दोनों का जोड़ बनता नहीं। 'कहँ' पद से इनके सम्बन्ध की अयोग्यता बताई गई है। अतः दो विषम पदार्थों के सम्बन्ध का वर्णन होने से यहाँ 'विषम' अलङ्कार है।

द्वितीय विषम

जहाँ कारण से, अपने गुणों से विलक्षण गुण वाले कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो, वहाँ विषम का दूसरा प्रकार होता है।

लोक में कारण के जैसे गुण होते हैं, उसी प्रकार के गुण उसके कार्य में भी आते हैं। परन्तु यहाँ कारण के गुणों से भिन्न गुण उसके कार्य में होते हैं। कार्य-कारणभाव यहाँ भी कल्पित होता है।

उदाहरण—

हो गईं दिशायें रंजित-सी इस अरुण मनोज्ञ प्रभाली से।
पर निकल पड़ी काली रजनी सन्ध्या की सुन्दर लाली से।

—कादम्बिनी

यहाँ लाल रङ्ग वाली सन्ध्या से काली रजनी की उत्पत्ति का वर्णन है। कारण सन्ध्या में 'लालिमा' गुण है और कार्य रजनी उससे विलक्षण 'कालिमा' गुण वाली हुई।

अतः यहाँ कारण के विरुद्ध-गुण-वाले कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होने से 'विषम' अलङ्कार है।

इसी प्रकार—

परयौ समुझि नहिं आजुलौं, या अचरज कौ हेतु।
फरयौ असित असिलता-तें, सुजस चारु फल सेत।

—वीरसतसई

यहाँ भी काली तलवार से सफ़ेद यश की उत्पत्ति का वर्णन होने से 'विषम' अलङ्कार है।

तृतीय विषम

किसी फल की सिद्धि के लिये किये गये प्रयत्न से फल-सिद्धि तो न हो, प्रत्युत कुछ अनिष्ट की ही प्राप्ति हो जाय—ऐसा वर्णन जहाँ हो, वहाँ तृतीय विषम अलङ्कार होता है।

'चाबे जो गये थे छब्बे बनने, परन्तु दुबे ही रह गये' अर्थात् कुछ पाने की आशा से गये थे वह तो न मिला, कुछ अपने पास से ही खो बैठे। चार के छः करना चाहते थे, दो अपने भी खो बैठे।

'गये थे रोजा छुड़ाने, नमाज गले पड़ी' 'कौवा चला हंस की चाल, अपनी चाल भी भूल गया' तथा 'लेने के देने पड़ गये' इत्यादि प्रकार वर्णन में यह अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

जारिबे को चाहत लंगूर जातुधान देखो,
वीर हनूमान जू जराय दियो लंका को।

यहाँ राक्षसों ने हनुमान् जी को जलाने के उद्देश्य से उनकी पूँछ पर आग लगाई। परन्तु हनुमान् जी तो जले नहीं, उलटे लङ्का जल गई।

इस प्रकार यहाँ इष्ट फल की प्राप्ति तो नहीं हुई, बल्कि अनिष्ट की भी प्राप्ति हुई। अतः तृतीय 'विषम' अलङ्कार है।

शृङ्खलामूलक अलङ्कार

शृङ्खला कहते हैं जंजीर को। जंजीर में एक कड़ी दूसरी कड़ी से जुड़ी रहती है। पहली कड़ी दूसरी से, दूसरी तीसरी से, तीसरी चौथी से इस प्रकार सब का सम्बन्ध बना रहता है। उसी प्रकार पंक्ति रूप से अर्थात् सिलसिलेवार वर्णित पदार्थों का—जब पूर्व पूर्व का उत्तर उत्तर के साथ या उत्तर उत्तर का पूर्व पूर्व के साथ सम्बन्ध होता है, तब उसे यहाँ 'शृङ्खला' कहा जाता है।

इस प्रकार का वर्णन जिन अलङ्कारों में होगा, वे शृङ्खलामूलक कहे जाते हैं।

शृङ्खलामूलक तीन अलङ्कार हैं—१. कारणमाला, २. एकावली और ३. सार।

३०. कारणमाला

जहाँ शृङ्खलारूप में वर्णित पदार्थों का कार्यकारण-भाव सम्बन्ध हो, वहाँ 'कारणमाला' अलङ्कार होता है।

यह दो प्रकार की होती है—१. पूर्व पूर्व कारण और पर पर कार्य हो। २. पूर्व पूर्व कार्य हो और पर पर कारण।

उदाहरण—

गति से प्रगति, प्रगति से अवगति, अवगति से चिन्तन ,
निखिल-निरीक्षण, मनन, विवेचन, पठन और पाठन ,
ज्ञान-जलधि-मन्थन, है अनन्त जीवन ।

—कादम्बिनी

यहाँ गति को प्रगति का, प्रगति को अवगति का और अवगति को चिन्तन का कारण कहा गया है। उत्तर उत्तर के प्रति पूर्व पूर्व के कारण होने से यहाँ 'कारणमाला' है।

उदाहरण—

सुजस दान अरु दान धन, धन उपजे किरवान।
सो जग में जाहिर करी, सरजा सिवा खुमान॥

—भूषण।

यहाँ पूर्व पूर्व के प्रति उत्तर उत्तर के कारण होने से 'कारणमाला' अलङ्कार है।

इसी प्रकार—

१. होत लोभ ते मोह, मोहहि ते उपजै गरब।
गरब बढ़ावै रोह, कोह कलह, कलहहु व्यथा॥
२. विद्या देती विनय को, विनय पात्रता नित्त।
पात्रतै धन, धन धरम, धरम देत सुख नित्त॥

इन पद्यों में भी कारणमाला है।

३१. एकावली

जहाँ शृङ्खला रूप से वर्णित पदार्थों का विशेष्य-विशेषणभाव सम्बन्ध हो, वहाँ 'एकावली' अलङ्कार होता है।

इसके भी दो प्रकार हैं—१. पूर्व पूर्व पदार्थ का उत्तर उत्तर के प्रति विशेष्य होना। २. पूर्व पूर्व का उत्तर उत्तर के प्रति विशेषण होना।

३२. सार

जहाँ शृङ्खला रूप में आये हुए पदार्थों में उत्तरोत्तर उत्कर्ष या अपकर्ष बताया जाय वहाँ 'सार' अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

१. काव्यों में नाटक सुन्दर होते हैं, नाटकों में शकुन्तला नाटक उत्तम है। शकुन्तला नाटक में भी चौथा अङ्क और उसमें भी चार श्लोक उत्तम हैं।

यहाँ पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर को उत्कर्ष बताया गया है। अतः 'सार' अलङ्कार है।

२. संसार में प्राणी, उनमें मनुष्य, मनुष्यों में विद्वान्, विद्वानों में भी निरभिमानी श्रेष्ठ हैं।

यहाँ भी पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर के उत्कर्ष का वर्णन है। अतः 'सार' अलङ्कार है।

३. तृन ते तूल रु तूल तें, हरुवो जाचक जान,
माँगन-सकुच न पौनहू, जाहि लियो संग ठान।

अर्थात् तृण से रुई और रुई से माँगने वाला हलका है। यदि इतना हलका है तो हवा उसे क्यों नहीं उड़ा ले जाती ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि हवा उसको इस डर से नहीं उड़ाती कि कहीं मुझसे वह कुछ माँग न बैठे।

यहाँ पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर का अपकर्ष कहा गया है। इसलिये यहाँ 'सार' अलङ्कार है।

अन्यसंसर्गमूलक अलङ्कार

३३. अर्थान्तरन्यास

जहाँ सामान्य से विशेष का या विशेष से सामान्य का समर्थन हो, वहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार होता है।

अर्थान्तरन्यास का शब्दार्थ है—अन्य अर्थ का उपन्यास रखना। इसमे वर्णनीय अर्थ से भिन्न अर्थ का भी वर्णन होता है। जिस अर्थ का समर्थन होता है, वह प्रायः प्रस्तुत होता है और समर्थक अर्थ प्रायः अप्रस्तुत।

उदाहरण—(सामान्य से विशेष का समर्थन)

१. निर्वासित थे राम, राज्य था कानन मे भी,
सच ही है—'श्रीमान् भोगते सुख वन मे भी'।

—साकेत

यहाँ पहले यह विशेष बात कही गई है कि—राम यद्यपि निर्वासित थे, तथापि वन मे भी उनको राजसुख प्राप्त हो रहा था। इस विशेष बात का समर्थन सामान्य बात से किया गया कि—'भाग्यशालियों को वन में भी सुख मिलता है।' अतः यहाँ प्रस्तुत विशेष अर्थ का अप्रस्तुत सामान्य अर्थ के द्वारा समर्थन होने से 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है।

२. (विशेष से सामान्य का समर्थन)

जग में घर की फूट बुरी।
घर के फूटहि सों बिनसाई सुबरन-लङ्कपुरी।
फूटहि से सब कौरव नासे भारत युद्ध भयो।
जाको घाटो या भारत में अबलौं नहीं पुजो।

—श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

यहाँ पहले सामान्य बात का कथन किया गया कि 'घर की फूट बुरी होती है'। इस प्रस्तुत सामान्य का समर्थन 'फूट के होने से लंका का नष्ट होना' तथा 'फूट से कौरवों का नाश होना' रूप अप्रस्तुत विशेष से किया गया है। अतः यहाँ प्रस्तुत सामान्य अर्थ का अप्रस्तुत विशेष अर्थ के द्वारा समर्थन होने से 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है।

अन्य उदाहरण—

१ ऋतु वसन्त याचक भया, हरषि दिये द्रुम पात।
तातें नवपल्लव भये, दिया दूर नहिं जात।

२. कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहि बीच।
नलबल जल ऊँचो चढ़ै, अन्त नीच को नीच।

—बिहारी

३. जो 'रहीम' उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चन्दन-विष व्यापे नहीं, लपटे रहत भुजंग।

४ करम गति टारे नाहिं टरै।
गुरु वसिष्ठ-से पंडित ज्ञानी सोध के लगन धरी।
सीताहरण मरण दसरथ का वन में विपति परी।

५ जेहि अचल दीपक दुरो, हन्यो सो ताही गात।
'रहिमन' असमय के परे, मित्र सत्रु ह्वै जात।

अर्थान्तरन्यास और उदाहरण का भेद

उदाहरण अलङ्कार मे सामान्य और विशेष अर्थ का अवयवावयवीभाव 'ज्यों, जैसे' आदि शब्दों के द्वारा वाच्य रहता है, परन्तु अर्थान्तरन्यास में 'ज्यों' आदि शब्दों का ग्रहण नहीं होता।

अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त का अन्तर[1]

अर्थान्तरन्यास में वाक्यार्थों में सामान्य-विशेषभाव रहता है अर्थात् एक अर्थ सामान्य रहता है और दूसरा विशेष, परन्तु दृष्टान्त में दोनों अर्थ विशेष होते हैं।

३४. काव्यलिङ्ग

जहाँ समर्थनीय अर्थ का अन्य अर्थ के द्वारा समर्थन किया जाय वहाँ 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार होता है।

१. अन्तर।

१ कनक कनक-ते सौगुनी, मादकता अधिकाय
या पाये बौरात जग, वा खाये बौरात।

—बिहारी

यहाँ 'धतूरे से सोने में सौगुनी अधिक मादकता है' यह अर्थ
[न] की अपेक्षा रखता है। उसका उत्तरार्ध वर्णित 'सोने
पाने से ही लोग पागल हो जाते हैं और धतूरे के खाने
[न]शा चढ़ता है' इस अर्थ के द्वारा समर्थन किया गया है।
यहाँ समर्थन के योग्य अर्थ का अन्य अर्थ से समर्थन होने के
[क]ा 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है।

२. 'रहिमन' चुप ह्वै बैठिये, देखि दिननि को फेरि।
जब नीके दिन आइहैं, बनत न लगिहै बेरि।

यहाँ 'दिनों का फेर समझकर चुप बैठे रहना चाहिये अर्थात्
[चिन्ता] नहीं करना चाहिये या घबड़ाना नहीं चाहिये' इस बात
'जब अच्छे दिन आयेंगे तब बनते देर न लगेगी' इस
[अर्थ] के द्वारा समर्थन किया गया है। अतः यहाँ भी 'काव्यलिङ्ग'
[अल]ङ्कार है।

अर्थान्तरन्यास और काव्यलिङ्ग का अन्तर

अर्थान्तरन्यास में अर्थों का सामान्य-विशेषभाव होता है,
[पर]न्तु काव्यलिङ्ग में ऐसा नहीं होता। इसके अतिरिक्त काव्यलिङ्ग
[में स]मर्थनीय अर्थ समर्थन की अपेक्षा रखता है अर्थात् बिना समर्थन
[के] असङ्गत-सा रहता है, परन्तु अर्थान्तरन्यास में ऐसा नहीं होता,
[वहाँ] समर्थन के बिना भी अर्थ-सङ्गति हो जाती है।

---

१ पागल होता है।

३५. अनुमान

जहाँ किसी हेतु के द्वारा किसी वस्तु के अनुमान का वर्णन हो, वहाँ 'अनुमान' अलङ्कार होता है।

कवि की प्रतिभा से सिद्ध अनुमान ही अलङ्कार होता है, साधारण नहीं।

उदाहरण—

१. किसी को हुआ न पूरा ज्ञान, किन्तु सब करते यह अनुमान।
दन्तमुक्ताओं की द्युतिमान, ज्योति है विमल मधुर मुसकान।

—कादम्बिनी

यहाँ 'मुसकान दाँतरूपी मोतियों की ज्योति है' यह अनुमान हुआ है, और यह कवि-प्रतिभा-निष्पन्न भी है। अतः 'अनुमान' अलङ्कार है।

२ देख लो यह है स्वर्ण प्रभात, खिल रहे हैं सर में जलजात।
कहाँ है तिमिर कहाँ है रात ? कहाँ है स्वप्नलोक अज्ञात ?
कह रहा है दिननाथ प्रकाश, चिरन्तन है ध्रुव विश्वविकास।

—कादम्बिनी

यहाँ भी परिवर्तन रूप हेतु के द्वारा 'चिरन्तन विश्वविकास' का अनुमान किया गया है। अतः 'अनुमान' अलङ्कार है।

३६. परिकर

जहाँ विशेषण साभिप्राय हों, वहाँ 'परिकर' अलङ्कार होता है।

विशेषणों का साभिप्राय होने का तात्पर्य है कि उनके द्वारा प्रकृत अर्थ का साधक चमत्कारपूर्ण व्यङ्ग्य, अर्थ से प्रतीत हो।

उदाहरण—

१. अच्युत-चरन-तरङ्गिनी, सिव-सिर-मालती-माल।
हरि न बनायौ सुरसरी ! कीजो इन्दव-भाल॥ —रहीम

अर्थात् हे गंगे ! मुझे विष्णु भगवान् न बनाना, मुझे बनाना चन्द्रशेखर महादेव।

पूर्वार्द्ध में 'गङ्गा' के दो विशेषण आये हैं, वे दोनों विशेष अभिप्राय से कहे गये हैं। भगवान् विष्णु के चरणों से गङ्गा जी निकली हैं और भगवान् शङ्कर के सिर पर रहती हैं। इन विशेषणों का तात्पर्य यही है कि विष्णु बनने पर गङ्गाजी को चरणों में रहना पड़ेगा, जो कि गङ्गा जी के भक्त को अभीष्ट नहीं। शिव बनने पर उसे सिर पर धारण करना होगा, इसे वह सहर्ष कर सकता है।

८२. अस्थि-चर्म मय देह मम, ता में जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम-महँ, होती न तो भवभीति॥

यहाँ देह का 'अस्थिचर्ममय' विशेषण अभिप्राय-गर्भित है। इसके द्वारा शरीर की निस्सारता और नश्वरता की सूचना होती है, ये दोनों बातें प्रकृत अर्थ के समर्थक हैं।

३७. सहोक्ति

जहाँ अनेक पदार्थों के 'संग' आदि सहार्थवाचक शब्दों की सहायता से अन्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध का वर्णन हो, वहाँ 'सहोक्ति' अलङ्कार होता है।

अन्वित होने वाले पदार्थों में प्रधान एक ही रहता है, अन्य गौण होते हैं 'संग' आदि शब्दों के बल से प्रधान के साथ मिलकर गौण पदार्थों का भी अन्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है।

एक बात का यहाँ विशेष ध्यान रखना चाहिये कि चमत्कार ही अलङ्कारों का प्राण है। चमत्कार-शून्य वर्णन में अलङ्कार नहीं होता। अतः सहोक्ति में भी जब चमत्कार होगा तभी इसे अलङ्कार कहा जायगा। अतः केवल 'संग' आदि शब्दों के प्रयोग को देखकर सहोक्ति अलङ्कार नहीं समझ लेना चाहिए। [illegible]

[illegible]

और 'साथ' इन सहार्थवाचकों की सहायता से प्रधान और गौण पदार्थों का आगे अन्वय होने पर भी चमत्कार न होने के कारण सहोक्ति अलङ्कार नहीं है।

इसमें चमत्कार अतिशयोक्ति के द्वारा आता है। जब अतिशयोक्ति की पुट इसमें लगती है, तब सहोक्ति चमत्कृत होकर अलङ्कार का रूप धारण करती है। उदाहरणों से यह स्पष्ट होगा।

'हे राजन्, तुम्हारे अस्त्रों के साथ शत्रुओं पर काल भी अकस्मात् गिर पड़ता है।'

यहाँ शत्रुओं पर अस्त्र गिरते हैं और साथ ही काल। इनमें अस्त्र प्रधान हैं और काल गौण है। शस्त्र गिरना कारण है और मृत्यु कार्य। 'कारण और कार्य का एक साथ होना' रूप अक्रमातिशयोक्ति की पुट मिलने से यहाँ चमत्कार है। अतः यहाँ 'सहोक्ति' अलङ्कार है।

उदाहरण—

१. अब भी सब साज समाज वही, तब भी सब आज अनाथ यहाँ।
सखि! जा पहुँचे सुध-संग कहीं, यह अन्ध सुगन्ध समीर वहाँ।

—यशोधरा

यहाँ 'संग' शब्द की सहायता से 'सुध' और 'समीर' का एक साथ 'जा पहुँचना' क्रिया के साथ अन्वय होता है। 'समीर' प्रधान है और 'सुध' गौण। अतः यहाँ 'सहोक्ति' अलङ्कार है।

२. बिसिख-भुजङ्ग तव फुङ्करत, उड़ि नभ-लगि मंडरात,
अरि-अपजसु और तेरो सुजसु, संग लपेटि लै जात।

—वीर-सतसई

यहाँ भी 'शत्रुओं का अपयश' और 'तुम्हारा सुयश' दोनों का एक साथ 'लपेट ले जाना' इस एक क्रिया के साथ अन्वय होता है और वह चमत्कारपूर्ण है ...

निम्नलिखित पद्य में सहोक्ति की सुन्दर माला है—

मुनि-नाथ के गात रुमाचन साथहि जो सहसा सिवचाप उठायो,
नरनाथन के मुखमंडल साथहि जो अवनीतल ओर नवायो।
मिथिलेस-सुता-मन साथहि त्यों पुनि खैंचिकै जो छिन माँहि चढ़ायो,
भृगुनाथ के गर्व अखंडित साथ सो खंडित कै रघुनाथ गिरायो।

—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

यहाँ प्रथम चरण में 'साथ' शब्द के बल से 'शिवचाप' रूप प्रधान और 'रोमाञ्च' रूप गौण पदार्थ का 'उठायौ' इस एक क्रिया के साथ अन्वय होता है। इसी प्रकार अन्य तीन चरणों में भी तीन सहोक्तियाँ हैं। इसलिये यहाँ 'माला' है।

३८. विनोक्ति

जहाँ किसी प्रस्तुत पदार्थ की किसी अन्य पदार्थ के बिना शोभनता या अशोभनता का वर्णन किया जाय, वहाँ 'विनोक्ति' अलङ्कार होता है।

जैसे—'मनुष्य धनी और विद्वान् होने पर भी नम्रता के बिना शोभा नहीं पाता' यहाँ नम्रता गुण के बिना मनुष्य की अशोभनता का वर्णन होने से विनोक्ति है। इसी प्रकार 'साधु [illegible] क्रोध के बिना ही [illegible] है' यहाँ क्रोध के बिना साधु की शोभनता का वर्णन होने से विनोक्ति है।

चमत्कार का होना यहाँ भी अत्यावश्यक है—इसका ध्यान रखना चाहिये। 'बिना रस के भोजन अच्छा नहीं लगता' यहाँ बिना शब्द का सम्बन्ध होने पर भी चमत्कार के अभाव के कारण विनोक्ति अलङ्कार नहीं है।

उदाहरण—

[illegible]

यहाँ विना कविता के मुख की और विना पुत्र के घर की शोभा न होने का वर्णन होने से 'विनोक्ति' अलङ्कार है।

निम्नलिखित उदाहरणों में विनोक्ति है—

१. शशि बिन सूनी रैन, ज्ञान बिन हिरदै सूनो।
कुल सूनो बिन पुत्र, पत्र बिन तरुवर सूनो।
गज सूनो इक दन्त बिना अरु वन पुहुप-विहूनो।
विप्र सून बिन वेद, ललित बिन सायर सूनो।

—वेताल कवि

२ बिनु सन्तोष न काम नसाहीं, काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।
राम भजन बिन मिटहिं कि कामा, थल-विहीन तरु कबहुं कि जामा।

—रामचरितमानस

३. बिन घन निर्मल सरद-नभ, राजत है निज रूप।
अरु रागादिक दोष बिन, मुनिजन विमल अनूप।

इसमें विना के पर्यायवाचक 'हीन' 'रहित' आदि शब्दों का भी प्रयोग होता है। जैसे—'साहित्य सङ्गीत कला-विहीन, साक्षात् पशु है बिन सींग पूँछ' यहाँ साहित्य, सङ्गीत और कला से हीन मनुष्य पशु कहा गया है अर्थात् अशोभन कहा गया है। यहाँ विना शब्द के पर्याय 'विहीन' शब्द के प्रयोग के कारण 'विनोक्ति' है।

३९. पर्यायोक्त

जहाँ विवक्षित अर्थ का चमत्कारयुक्त भिन्न प्रकार से प्रतिपादन किया जाय, वहाँ 'पर्यायोक्त' अलङ्कार होता है।

इसका तात्पर्य यह है कि जो बात कहनी हो उसे सीधे शब्दों में न कहकर कुछ विलक्षण प्रकार से कहा जाय। जैसे—'आप यहाँ बैठिये' इस प्रकार बैठने के लिये कहा जाता है, परन्तु इस रूप में न कहकर यदि इससे भिन्न विलक्षण प्रकार से यों कहा जाय कि 'इस आसन को अलंकृत कीजिये' अथवा 'इस आसन को शोभा

कराइये' या 'इस आसन को पवित्र कीजिये'। तब यहाँ 'पर्यायोक्त' होगा। क्योंकि यहाँ बात को जिस रूप में कहा जाना चाहिये था, उस रूप में न कहकर अन्य विलक्षण प्रकार से कहा गया है।

अभिप्राय प्रकट करने मे जो प्रकार सरल है, उसे छोड़कर इस प्रकार का अवलम्बन उक्ति मे चमत्कार लाने के लिये किया जाता है। साधारण प्रकार से अभिप्राय प्रकट करने में रोचकता नहीं होती और न प्रभाव ही उसका पड़ता है।

उदाहरण—

मातुपितुहि जनि सोचबस, करहि महीप-किशोर।
गर्भन के अर्भक दलन, परशु मोर अति घोर।

—रामचरितमानस

परशुराम जी लक्ष्मण को कह रहे हैं। उनका विवक्षित अर्थ है कि 'मैं तुम्हें मार डालूंगा'। इस अभिप्राय को प्रकट करने का यह सरल प्रकार था, पर इसे भिन्न प्रकार से ही प्रकट किया गया है। कहा गया है कि 'तुम अपने माता पिता को शोक में मत डालो'। इस प्रकार कहने से भी यही तात्पर्य निकलता है कि 'मैं तुम्हें मार डालूंगा, तुम्हारे माता पिता शोक सागर में डूब जायंगे।'

दीन जानि सब दीन, एक न दीन्यो दुसह दुख।
सो अब हम कहँ दीन, कछु न राख्यो बीरबर।

—बादशाह अकबर

बीरबल की मृत्यु पर बादशाह अकबर ने इस पद्य के द्वारा अपने हृदय का असीम दुःख प्रकट किया है तथा बीरबल की उदारता की प्रशंसा भी की है। इस अभिप्राय को प्रकट करने का सीधा-सादा प्रकार यह था कि 'बीरबल, तुम बड़े उदार रहे हो, तुमने सब को बहुत कुछ दिया, अब तुम्हारा [illegible] हो रहा है'। किन्तु इस प्रकार से न कहकर विलक्षण प्रकार से इस बात को

प्रकट किया गया है—'लोगों की दीनता का पता पाने पर तुमने उन्हें सब कुछ दे दिया, पर अभी तक दु ख तुमने किसी को न दिया था। अब मरते हुए तुमने वह हमें दे दिया, दु ख को भी तुमने अपने पास नहीं रखा'। इस प्रकार प्रकट करने में भाव-विशेष चमत्कृत हो गया है।

इसलिये विलक्षण प्रकार से विवक्षित अर्थ को प्रकट करने के कारण यहाँ 'पर्यायोक्त' अलङ्कार है।

४०. व्याजस्तुति

जहाँ किसी कथन में प्रथम निन्दा की प्रतीति हो, पर अन्त में प्रशंसा का बोध हो या प्रथम प्रशंसा की प्रतीति हो, परन्तु बाद को निन्दा की, वहाँ 'व्याजस्तुति' अलङ्कार होता है।

व्याजस्तुति का शब्दार्थ है—व्याज से स्तुति या व्याज रूप स्तुति अर्थात् निन्दा के बहाने प्रशंसा या प्रशंसा के बहाने निन्दा।

उदाहरण (निन्दा से स्तुति)—

१. कहतु कौन रण में तुम्हें, धीर-वीर-सरदार,
लखि रिपु बिनु हथियार जो, डारि देत हथियार।

—वीर-सतसई

अर्थात् तुम्हें कौन वीर कहता है ? तुम तो निरस्त्र शत्रु को देखते ही हथियार छोड़ देते हो।

यहाँ पहले तो निन्दा प्रतीत होती है कि जो निरस्त्र ही शत्रु को देखकर लड़ता नहीं, डर के मारे हथियार छोड़ देता है, वह कैसे वीर कहा जायगा ?

परन्तु विचार करने से अन्त में निन्दा के बहाने की गई प्रशंसा की प्रतीति होती है अर्थात् तुम निरस्त्र पर प्रहार नहीं करते, सच्चे वीर निरस्त्र पर वार नहीं किया करते और और शास्त्र भी तो इसका अनुमोदन नहीं करता।

अतः यहाँ निन्दा की प्रतीति के बाद प्रशंसा की प्रतीति होने से 'व्याजस्तुति' अलङ्कार है।

२. (स्तुति से निन्दा)—

है घूमता फिरता समय तुम किन्तु ज्यों के त्यों बने,
फिर भी अभी तक जी रहे हो वीर हो निश्चय घने।

—भारत-भारती

यहाँ प्रथम स्तुति प्रतीत होती है, परन्तु बाद को निन्दा अर्थात् तुम बड़े निकम्मे हो, अन्य देश उन्नति-शिखर पर आरूढ़ हो गये, पर तुम जैसे के तैसे पड़े हो, इस प्रकार जीना भी कोई जीना है? यह क्या वीरता है?

४१. अर्थापत्ति

जहाँ एक अर्थ के वर्णन से अन्य अर्थ की स्वतः सिद्धि का वर्णन हो वहाँ 'अर्थापत्ति' अलङ्कार है।

वर्णनीय अर्थ से अन्य अर्थ की प्रतीति समान कारण होने से होती है।

यह प्रायः 'दण्डापूपिकान्याय' से हुआ करता है। जैसे दण्ड के खींचने से उस पर रखे हुए मालपुए अपने आप आ जाते हैं। इसी प्रकार एक अर्थ के द्वारा उससे सम्बन्ध रखने वाला दूसरा अर्थ स्वतः प्रतीत हो जाता है।

उदाहरण—

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

—आचार्य श्रीमहावीरप्रसाद द्विवेदी

यहाँ कविता के स्वरूप के ज्ञान न होने का वर्णन है, इससे

अन्य अर्थ 'अलङ्कारों का ज्ञान न होना' भी स्वतः सिद्ध हो जाता है। अतः यहाँ 'अर्थापत्ति' अलङ्कार है।

इसे 'काव्यार्थापत्ति' भी कहते हैं।

४२. क्रम

जिस क्रम से पदार्थों का वर्णन हुआ हो, उसी क्रम से उनका अन्वय हो तो 'क्रम' अलङ्कार होता है।

इसे 'यथासङ्ख्य' भी कहते हैं, क्योंकि क्रमसङ्ख्या के अनुसार ही यहाँ पदार्थों का अन्वय होता है—पहले का पहले से, दूसरे का दूसरे से, आदि।

उदाहरण—

१ जग का विकसित सरसिज आनन, सजल सरोज नयन।
योगी और वियोगी जन का, हर्षित क्लेशित मन।
हासविलास रुदन, है अनन्त जीवन।

—कादम्बिनी

यहाँ मुख-कमल का विकसित और सजल होने का वर्णन है। फिर उसी क्रम से योगी और वियोगी, हर्षित और क्लेशित, हास-विलास और रुदन—कहे गये हैं। यहाँ क्रमशः अन्वय होने से 'क्रम' अलङ्कार है।

निम्नलिखित पद्य भी 'क्रम' के उदाहरण हैं—

१ अमी हलाहल मद भरे, सेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जिहि चितवत इकबार।

२. वसन्त ने, सौरभ ने, पराग ने, प्रदान की थी अतिकान्त-भाव से।
वसुन्धरा को, पिक को, मिलिन्द को, मनोज्ञता, मादकता, मदान्धता।

—प्रियप्रवास

३. लहरति चमकति चाप सों, तुव तरवारि अनूप।
धाय डसति, चौंधति चखनि, नागिनि-दामिनि-रूप।

—वीर-सतसई

४३. तद्गुण

जहाँ किसी वस्तु का अपने गुण को त्याग कर समीपस्थ अन्य वस्तु के गुण ग्रहण करने का वर्णन हो, वहाँ 'तद्गुण' अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

१. सिय! तुअ अंग-रंग मिलि, अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावौं, चम्पक होत।
—बरवै-रामायण

यहाँ बेले का हार अपने गुण शुक्लत्व को छोड़कर सीता के अङ्ग के गौर वर्ण को ग्रहण कर 'चम्पक' बन जाता है। अतः 'तद्गुण' अलङ्कार है।

२. नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझकर भ्रान्ति से। —साकेत

यहाँ लाल अधर की कान्ति से नाक के मोती के लाल हो जाने का वर्णन है और अपने शुक्लत्व गुण का उसने परित्याग कर दिया है। अतः अपना गुण छोड़कर अन्य वस्तु के गुण के ग्रहण का वर्णन होने से यहाँ 'तद्गुण' अलङ्कार है।

तद्गुण अलङ्कार का चमत्कार भ्रम होने पर ही स्पष्ट होता है। अतः तद्गुण के अनन्तर 'भ्रम' का वर्णन प्रायः मिलता है।

४४. परिसंख्या

जहाँ सामान्य रूप से प्राप्त अर्थ का किसी विशेष कारण से निषेध किया जाय, वहाँ 'परिसंख्या' अलङ्कार होता है।

यह दो प्रकार की है—१. शुद्धा और २. प्रश्नपूर्विका। शुद्धा में प्रश्न नहीं होता और प्रश्नपूर्विका में प्रश्न के साथ प्राप्त अर्थ का खण्डन होता है

इसमे निषेध कहीं 'न' आदि वाचक शब्दों के द्वारा होता है और कहीं वाचक शब्द के विना ही अर्थ के द्वारा सिद्ध होता है। 'न' आदि वाचक शब्दों के प्रयोग-स्थल मे यह 'शाब्दी' कही जाती है और उनके अभाव में 'आर्थी'।

उदाहरण—

१. पावस ही में धनुष अब, सरित तीर ही तीर।
रोदन में ही लाल दृग, नौ रस ही में वीर।

—वीर-सतसई

यहाँ सामान्य रूप से धनुष, तीर, लाल आँखें और वीर प्राप्त थे। परन्तु देश की दुर्दशा या निर्बलता रूप विशेष हेतु होने से उनका निषेध किया गया है। अब वर्षा ऋतु में ही धनुष इन्द्रधनुष-मिलता है, वीरों के पास नहीं। 'तीर' भी अब नदी का ही मिलता है, वीरों के पास नहीं। इसी प्रकार लाल आँखें रोने से ही होती हैं, शत्रु पर क्रोध से नहीं। वीर अब केवल नौ रसों की गिनती मे रह गया है, लोक में तो कोई वीर नहीं। अतः यहाँ 'परिसङ्ख्या' अलङ्कार है।

यहाँ निषेध विना प्रश्न के ही हुआ है और 'न' आदि निषेध-वाचक शब्द का भी इसमें प्रयोग नहीं है। अतः यह 'शुद्धा आर्थी परिसङ्ख्या' है।

२. उत्तम भूषण कौन ? यश, नहिं कनकालङ्कार।
सखा कौन जग ? धर्म है, नहिं नर आदिक यार।

यहाँ प्रश्नपूर्वक और 'नहिं' शब्द के द्वारा निषेध किया गया है। अतः 'प्रश्नपूर्विका शाब्दी परिसङ्ख्या' है।

सोने के भूषण सामान्य रूप से प्राप्त थे, पर उनका निषेध कर दिया गया, क्योंकि 'यश' की विशेषता बताना यहाँ अभीष्ट है। यश ऐसा उत्तम भूषण है जो मनुष्य को मरने पर भी अलङ्कृत

करता रहता है। इसी प्रकार धर्म ऐसा उत्तम मित्र है कि मरने पर भी साथ नहीं छोड़ता। इस विशेषता को बताने के लिये अन्य मित्र का यहाँ निषेध किया गया है।

३ मज्जन ही की अधोगति 'केशव' गाइय,
होम-हुताशन-धूम नगर एकै मलिनाइय।

रामचन्द्र जी के नगर की महत्ता बताना यहाँ इष्ट है, उनके नगर में किसी मनुष्य की दुर्गति नहीं है और न किसी का चित्त ही मलिन है।

यहाँ सामान्य रूप से 'अधोगति' और 'मलिनता' प्रजा और 'अन्य वस्तुओं' में प्राप्त थी, उनका यहाँ निषेध किया गया है। अतः 'परिसंख्या' अलङ्कार है।

प्रश्नपूर्वक न होने से यह शुद्धा है और 'न' आदि वाचक शब्द के द्वारा निषेध न होने से आर्थी है।

दूसरे उदाहरण में 'तोर' शब्द और इसमें 'अधोगति' और 'मलिनता' शब्द श्लिष्ट हैं। अतः यह श्लेषमूलक है।

४५. अनुज्ञा

जहाँ दोष रूप से प्रसिद्ध वस्तु की भी किसी विशेष गुण के कारण उपादेयता का वर्णन हो, वहाँ 'अनुज्ञा' अलङ्कार होता है।[illegible]

'अनुज्ञा' का शब्दार्थ है—'अनुमति'। इसमें दोषयुक्त वस्तु के लिये भी अनुमति प्रकट की जाती है।

उदाहरण—

[illegible]
[illegible]

—[illegible]

[illegible]

यहाँ दोष रूप से प्रसिद्ध दुःख को भी सहानुभूति तथा समता बढ़ाना गुण होने के कारण उपादेय बताया गया है। अतः 'अनुज्ञा' अलङ्कार है।

४६. तिरस्कार[1]

जहाँ गुण रूप से प्रसिद्ध वस्तु के प्रति भी किसी विशेष दोष के सम्बन्ध के कारण अनादर प्रकट किया जाय, वहाँ 'तिरस्कार' अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

भले ही मार्ग दिखाओ लोक को, गृहमार्ग न भूलो हाय!
तजो हो प्रियतम! उस आलोक को, जो पर ही पर दरसाय।

—यशोधरा

यहाँ गुण रूप से प्रसिद्ध 'आलोक' के प्रति 'दूसरे पर ही दिखाना' रूप दोष के कारण अनादर प्रकट किया गया है। अतः यहाँ 'तिरस्कार' अलङ्कार है।

निम्नलिखित उदाहरणों में 'अनुज्ञा' और 'तिरस्कार' दोनों अलङ्कार हैं—

१ बिना मान तज दीजिये, स्वर्गहुँ सुकृत-समेत।
रहो मान तो कीजिये, नरकहुँ निजनिकेत।

—वीर-सतसई

२ सुख के माथे सिल परै, नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुःख की, पल पल नाम रटाय।

—तुलसी

४७. परिवृत्ति

जहाँ दूसरे की किसी वस्तु को लेकर अपनी किसी वस्तु के देने का वर्णन हो, वहाँ 'परिवृत्ति' अलङ्कार होता है।

---

१ तिरस्कार जहँ दोष सों, वस्तुत्याग गुनगान।

समता का अर्थ है—एक से अधिक बार आजाना। इसे 'आवृत्ति' भी कहते हैं।

अनुप्रास शब्द का अर्थ है—रस के अनुकूल वर्णों का प्रकृष्ट विन्यास-योजन। यदि वर्ण-योजना रस के प्रतिकूल होगी तो वहाँ अलङ्कार नहीं, प्रत्युत दोष होगा। शृङ्गार रस में कर्णकटु टकारादि वर्णों की यदि आवृत्ति होगी तो वहां अलङ्कार होने के बजाय दोष होगा।

यह अनुप्रास दो प्रकार का है—१. छेकानुप्रास, २. वृत्त्यनुप्रास।

छेकानुप्रास

जहाँ अनेक वर्णों की अर्थात् व्यञ्जनों की एक वार स्वरूप और क्रम से आवृत्ति हो, वहाँ 'छेकानुप्रास' होता है।

उदाहरण—

> कैसे फूले विपुल फल से नम्र भूजात भूले।
> कैसे भूला विरूप तरु-सा कालिन्दी-कूल-वाला॥
>
> —प्रियप्रवास

इस पद्य में 'फूले' और 'फल' में फकार और लकार तथा 'कालि' और 'कूल' में ककार और लकार की स्वर भिन्न होते हुए भी आवृत्ति हुई है। अतः 'छेकानुप्रास' है।

उपर्युक्त पद्य में वर्णों की आवृत्ति स्वरूप और क्रम दोनों से हुई है। यदि दोनों प्रकार से आवृत्ति न होगी तो छेकानुप्रास नहीं होगा।

जैसे—'तुलसिदास सोदत निसिदिन आनि तुम्हारि निठुराई' यहाँ 'दास' और 'सोदत' में दकार और सकार की स्वरूप से आवृत्ति हुई है, पर क्रम से नहीं। 'दास' में पहले दकार है, फिर सकार और 'सोदत' में पहले सकार और फिर दकार। अतः यहाँ 'छेकानुप्रास' नहीं है।

यहाँ 'सिद' और 'सीद' अंश में स्वरूप और क्रम दोनों से आवृत्ति होने के कारण 'छेकानुप्रास' है।

वृत्त्यनुप्रास

जब अनेक व्यञ्जनों की सरूपमात्र से एक बार या अनेक बार समता हो या अनेक वर्णों की आवृत्ति स्वरूप और क्रम दोनों प्रकार से कई बार (एक बार नहीं) हो अथवा केवल एक वर्ण की अनेक बार आवृत्ति हो तो 'वृत्त्यनुप्रास' अलङ्कार होता है।

यह वृत्ति के अनुसार होता है। रसविषयक अनुकूल व्यापार से युक्त रचना को वृत्ति कहते हैं अर्थात् जो रचना रस को अभिव्यक्त करने में अनुकूल हो, उसे वृत्ति कहते हैं। अतः वृत्ति के अनुकूल वर्णों की प्रकृष्ट योजना अर्थात् समता को वृत्त्यनुप्रास कहा जायगा। वृत्तियाँ तीन हैं—१. उपनागरिका, २. परुषा, ३. कोमला। इन्हीं को क्रम से वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीति भी कहा जाता है। उपनागरिका में मधुर वर्णों की योजना होती है और यह शृङ्गार, करुण तथा हास्य रस के अनुकूल होती है। परुषा में ओजस्वी वर्णों का विन्यास होता है। यह रौद्र, वीर और भयानक रस के अनुकूल होती है। कोमला वृत्ति में कोमल वर्णों का प्रयोग होता है। इसमें शान्त, अद्भुत और वीभत्स रस की अनुकूलता होती है।

यद्यपि अनुप्रास मात्र में रसानुकूल वर्णविन्यास आवश्यक है, पर वृत्त्यनुप्रास में विशेषरूप से वृत्ति—रसानुकूलरचना—कहना [illegible] नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यह इसीलिए कहा गया है कि जिन वर्णों की कई बार आवृत्ति होती है, [illegible] छेकानुप्रास में [illegible] होती है, अतः यहाँ [illegible]

आशङ्का नहीं। इसलिये इसमें ही 'वृत्ति' की अधिक आवश्यकता होने से इसे 'वृत्त्यनुप्रास' कहा गया है।

उदाहरण—

१ मधुर मृदु मञ्जुल मुख मुसकान,
मैनतामयो मनोज मदान।
कुञ्चित शुचित कल काले केश,
कमल-कोमल कपोल का देश।

—श्रीआचार्य रामचन्द्र शुक्ल (शैशव)

जहाँ पूर्वार्ध में 'मकार' की और उत्तरार्ध में 'ककार' की अनेक वार आवृत्ति हुई है। अतः 'वृत्त्यनुप्रास' अलङ्कार है।

२. जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचै नाँचै वृथा, साँचै राँचै राम।

—बिहारी

यहाँ उत्तरार्ध में 'आँचै' इन दो वर्णों की अनेक वार आवृत्ति हुई है। इसलिये 'वृत्त्यनुप्रास' है।

४९. लाटानुप्रास

जहाँ समानार्थक शब्दों की आवृत्ति हो, परन्तु अन्वय करने पर उनके तात्पर्य में भेद प्रतीत हो, वहाँ 'लाटानुप्रास' अलङ्कार होता है।

इसको 'लाट' देश के लोग बहुत पसंद करते रहे होंगे, अतः इसका नाम उनके नाम पर 'लाट' रख दिया गया।

इसमें अनेक शब्दों की आवृत्ति होती है अर्थात् वाक्य की भी और एक शब्द की भी।

वाक्यावृत्ति उदाहरण—

५०. यमक

जब स्वर और व्यञ्जन समुदाय की अर्थात् शब्दों की आवृत्ति हुई हो तथा आवृत्त भाग या तो निरर्थक हों और यदि सार्थक हों तो भिन्न भिन्न अर्थ वाले हों, तब 'यमक' अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

१. दुरित है धन-हीन, धनी सुखी, यह विचार परिष्कृत है यदि।
मन ! युधिष्ठिर सो फिर क्यों हुई, विभवता भवताप-विधायिनी।

—श्रीरामचरित उपाध्याय

यहाँ 'भवता' शब्द की आवृत्ति हुई है और दोनों निरर्थक हैं। अतः 'यमक' अलङ्कार है।

२ नेह सरसावन मे नेह बरसावन मे।
सावन में झूलिबो सुहावनो लगत है।

—पद्माकर

यहाँ 'रसावन' की आवृत्ति हुई है, दोनों 'रसावन' निरर्थक हैं। 'सावन' की दो बार आवृत्ति हुई है। उसमें पहले दो निरर्थक हैं और अन्तिम सार्थक। अतः यहाँ 'यमक' अलङ्कार है।

३ मतवारे सब ह्वै रहे, मतवारे मन माँहि।
सिर उतारि सत धर्म पै, कोउ चलावत नाहिं।

—वीर-सतसई

यहाँ 'मतवारे' शब्द की आवृत्ति हुई है। दोनों जगह अर्थ भिन्न है। प्रथम 'मतवारे' का अर्थ 'मत-वाले—मजहब-वाले' है और दूसरे का 'मतवाले—पागल' है। अतः यहाँ भी 'यमक' अलङ्कार है।

निम्नलिखित पद्यों में भी यमक अलङ्कार है—

१ काहू ने न तारे तिन्हें गंगा तुम तारे
जेते तुम तारे तेते नभ में न तारे हैं।

अतः यहाँ भिन्न आकार वाले शब्दों के प्रयोग में पुनरुक्ति की झलक होने से 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार है।

अन्य उदाहरण—

१ अली भौंर गूँजन लगे, होन लगे दल पात।
जहँ तहँ फूले रूख तरु, पिय पीतम किमि जात।

२ बाती विरति विचार, चित दीपक घृत भव-भगति।
नसत तिमिर-संसार, जगत जोति जवे ज्ञान की।

—श्रीशिवकुमार

५२. वक्रोक्ति

जहाँ श्रोता वक्ता के अन्यार्थक शब्द के अन्य अर्थ की कल्पना कर ले, वहाँ 'वक्रोक्ति' अलङ्कार होता है।

इसके दो भेद हैं—१. श्लेष-वक्रोक्ति, और २. काकु-वक्रोक्ति।

श्लेष-वक्रोक्ति—

विबुध पुण्यजन आप हैं, इस भूतल पर धन्य।
मैं न देव हूँ यक्ष नहीं, मैं तो मनुज अनन्य।

—साहित्याचार्य नागेन्द्र उपाध्याय

यहाँ वक्ता का अभिप्राय है—'आप पण्डित और पुण्यात्मा हैं।' श्रोता ने पूर्वोक्त अभिप्राय से प्रयुक्त वक्ता के 'विबुध' और 'पुण्यजन' शब्दों के 'देवता' और 'यक्ष' अर्थ की कल्पना की है। अतः यहाँ 'वक्रोक्ति' अलङ्कार है।

यहाँ 'विबुध' और 'पुण्यजन' शब्द श्लिष्ट हैं। श्रोता ने उनके दूसरे अर्थ की कल्पना श्लेष के बल से की है। अतः यहाँ 'श्लेष-वक्रोक्ति' है।

काकु-वक्रोक्ति

जहाँ वक्ता के अन्य अभिप्राय से क[illegible] के अन्य अर्थ की कल्पना श्रोता काकु [illegible] वक्रोक्ति' होती है।

समावेश तिल-तण्डुल-न्याय से अर्थात् परस्पर निरपेक्ष रूप में हो, तब 'संसृष्टि' कही जाती है।

जिस प्रकार एक पात्र में रखे हुए तिल और चावल साथ रहते हुये भी परस्पर निरपेक्ष रहते हैं, उसी प्रकार जब एक पद्य में आये हुए अनेक अलङ्कार परस्पर कोई सम्बन्ध न रखें तो, उनकी 'संसृष्टि' कही जाती है।

उदाहरण—

> पत्ता-लौं अम्बर-अनी, पत्ता दई उड़ाय।
> हिय फेरि चित्तौर-पै, प्रान-प्रसून चढ़ाय।
>
> —वीर-सतसई

यहाँ 'पत्ता' शब्द की आवृत्ति होने से 'यमक', पत्तालौं—पत्ते के समान' में सादृश्य का वर्णन होने से 'उपमा' और प्राणों में प्रसून का आरोप होने से 'रूपक' अलङ्कार हैं। ये तीनों अलङ्कार एक [illegible] में आये हैं और परस्पर निरपेक्ष हैं, अतः यहाँ इन तीन अलङ्कार[illegible] 'संसृष्टि' है।

सङ्कर

जब एक पद्य में अनेक अलङ्कारों का समावेश नीर-क्षीर-न्याय से अर्थात् परस्पर सापेक्ष रूप से हो, वहाँ 'सङ्कर' होता है।

जिस प्रकार एक पात्र में दूध और जल का मेल होने पर उनमें परस्पर सम्बन्ध हो जाता है, उसी प्रकार सङ्कर में अलङ्कार परस्पर सम्बद्ध रहते हैं।

अलङ्कारों का परस्पर सम्बन्ध या तो अङ्गाङ्गिभाव होता है या एकवाचकानुप्रवेश-रूप सन्देह-रूप। अतः सम्बन्ध के भेद से सङ्कर के तीन भेद होते हैं—१ अङ्गाङ्गिभाव, २ [illegible] और ३ सन्देह।